श्री ज्ञान मन्दिर जंगमबाड़ी मठ को
सप्रेम भेंट
सीताराम त्रिपाठी
१-८-६०

॥ ओ३म् ॥

# श्रीमद्भगवद्गीता

(भाषा टीका सहित)

प्रकाशक :—

श्री हरिदत्त वासुदेव





गीताजयन्ती सं० २००७

✻ ओ३म् ✻





# श्रीमद्भगवद्गीता

जिसको

## श्री हरिदत्त वासुदेव ने

अपने गीताभक्त पूज्य पिता स्वर्गीय

## श्री पं० दौलतराम जी

—: की :—

पुण्य-स्मृति में



श्री पं० रघुनाथदत्त बन्धु शास्त्री, निरुक्तरत्न, विद्यालंकार

—: से :—

भाषा टीका करवा कर प्रकाशित किया।

प्रथमबार २०००] संवत् २००७ [मूल्य १)

## २००० गीता व्यय का ब्योरा

| | | | |
|---|---|---|---|
| कागज | ... | ... | ७२५।।।=) |
| छपाई | ... | .... | ८२१) |
| बाईडिंग | ... | .... | ६२५) |
| | कुल | ... | २१७१।।।=) |

२५० कपड़े की जिल्द वाली, एक प्रति १।≡) व्यय ३५६।=)

५०० साधारण जिल्द, एक प्रति १=) व्यय ५६२।।)

१२५० बिना जिल्द, एक प्रति १) व्यय १२५०)

कुल व्यय २१७१।।।=)

यह गीता प्रचारार्थ बड़ी २ संस्थाओं के पुस्तकालयों को बिना मूल्य और अन्य लोगों को लागत के मूल्य पर दी जाती है ।

प्रकाशक

पुस्तक मिलने का पता :—

श्री हरिदत्त वासुदेव
कारमाइकल हौस
कारमाइकल रोड़
बम्बई ।

स्वर्गीय श्री १०८ पंडित दौलतराम जी वसुदेवा–काशमीर निवासी।

## * प्राक कथन *

स्वनामधन्य स्वर्गीय श्री पं० दौलतराम जी गीता के मर्मज्ञ विद्वान् तथा अनन्य भक्त थे। उन्होंने गीता पर अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत तथा द्वैत परक अनेक भाष्य और देशी तथा विदेशी टीकाएँ पढी सुनी थीं। वह कहा करते थे, कि गीता कामधेनु के सदृश है, इसलिए उसका आश्रय लेनेवाले किसी भी टीकाकार को उससे निराश नहीं होना पड़ा। ज्ञानी, योगी, भक्त, धर्मशास्त्री, नैतिक, राजनैतिक, सभी को गीता अपने २ मत की ही पोषक प्रतीत हुई है। इसका कारण यह है, कि भगवद्वाणी होने के कारण गीता सभी सच्चाइयों का भाण्डार है। इस लिये उसका प्रत्येक शब्द कल्पद्रुम की तरह समस्त सत्पथ गामियों की मन चाही बात पूर्ण करता है। अतः सभी भाष्य तथा टीकाकार किसी न किसी सद्विचार से प्रेरित हो, अपने २ विचार के अनुसार ठीक ही कहते हैं। इसलिये श्रेयस्काम जिज्ञासु भाष्य और टीकाऐं भले ही पढ़े, किन्तु उसे उनके साम्प्रदायिक विवादों में

न पढ़कर गीता का स्वयं मनन करना चाहिये। फिर वह देखेगा, कि उसके अपने जीवन की कैसी २ कठिन समस्याओं को गीता कितनी सुगमता से सुलझाती है, क्योंकि गीता केवल परलोक को सुधारने की ही पुस्तक नहीं, किन्तु इसके मनन से, पहले यह लोक और बाद में परलोक सुधरता है। अतः उनकी सदा यह प्रबल इच्छा होती थी, कि अपने कल्याण के लिये अधिक से अधिक लोग गीता का स्वाध्याय करें। अपनी इसी भावना से प्रेरित हो, उन्होंने अपने जीवन काल में अनेक लोगों को गीता का उपदेश दिया था। मुझे भी बहुत बार उनसे गीता के प्रवचन सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, गीता पर आप की अनूठी सूझ थी, वाणी में अद्भुत आकर्षण था, और समझाने की शैली अतीव सरस, सरल मधुर तथा भावपूर्ण हुआ करती थी। आप से गीता के श्लोकों की व्याख्या सुन नास्तिक के मन में भी आस्तिक होने की साध उत्पन्न हो जाया करती थी।

श्रद्धेय पण्डित जी केवल गीता को पढ़ते ही न थे, किन्तु गीता के सतत अभ्यास से उनका जीवन ही गीतामय हो गया था, वह एक आदर्श महापुरुष थे। लोग गीता पढ़ें, इस उद्देश्य से वह कईयों को अपने पास से गीता दिया करते थे। इसलिये उनके सुपुत्र श्रीयुत पं० हरिदत्त जी वासुदेव (Managing Director National Security Ass. Co. Ltd. Bombay) के मन में यह भावना हुईकि श्रद्धेय श्री पिता जी चाहते थे, कि लोग गीता पढ़ें, इसका अधिकाधिक प्रचार हो। अतः

इन्होंने अपने आराध्य देव परम पूज्य स्वर्गीय पिता जी की पुण्य स्मृति में गीता प्रकाशितकरनी चाही और यह जानकर कि जो संस्कृत नहीं, केवल हिन्दी ही जानते हैं, उन्हें भी गीता से लाभ हो सके, इसका अक्षरार्थ करवा देना उचित समझा। मेरी स्वर्गीय पूज्य पण्डित जी पर बड़ी श्रद्धा थी और उनके गीता पर कई प्रवचन भी मैंने सुने हुए थे, इसलिये उनकी पुण्य स्मृति में छपने वाली गीता की भाषा टीका "मैं करूंगा" यह मैंने कहा, क्योंकि मैं चाहता था, कि इस टीका में उनके भाव प्रिय पाठकों को भेंट करूं। पर क्या करूं टीका लिखते मुझे पद २ पर अनुभव हुआ, कि जो मैं चाहता था, वह मुझ से नहीं बन पड़ा, क्योंकि गीता का ज्ञान ही ऐसा गम्भीर हैं, कि सुनकर स्वयं [1]अर्जुन भी उसे पूरी तरह याद न रख सके थे, फिर मेरी तो गणना ही क्या है, यद्यपि मैंने प्रयत्न किया है, कि उनसे सुना आपको सुनाऊं। फिर भी यह भाषा मेरी है, अपनी विस्मरण शील स्मृति के आधार पर मैंने कहीं २ उनके भाव देने का उद्योग अवश्य किया है, किन्तु उनका कोई भाव इसमें आ सका है, या नहीं, इसका निर्णय केवल वही महानुभाव कर सकेंगे, जिन्हें कभी श्रद्धेय पण्डित जी से गीता के किसी श्लोक की व्याख्या सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। रही अक्षरार्थ करने की बात जिसके लिये मैं प्रवृत हुआ था। इसके विषय में भी कैसे कहूँ, कि जो मैंने किसी श्लोक का अर्थ किया है, वही उसका अर्थ है, क्योंकि गीता के एक २ शब्द के अनेकानेक अर्थ हैं, इसीलिये उन शब्दों का अपने २ मत के अनुसार भाष्य तथा टीकाकार भिन्न२ अर्थ करते हैं। जिसे भाष्यकार

(१) महा॰ आश्व प॰ अ॰ १६।४–१२

आचार्य तथा टीकाकार धुरंधर विद्वान् निश्चित नहीं कर सके, उसे मेरे जैसा अल्पज्ञ निश्चय करने का साहस ही कैसे कर सकता है? अतः मेरी इस टीका को केवल यही समझिये, कि गीता के श्लोकों के जो अनेक अर्थ हो सकते हैं। उनमें से एक बड़ा साधारण अर्थ यह भी है।

पूज्यपाद स्वर्गीय श्री पण्डित जी के उपदेशों से पाठक बिलकुल वंचित ही न रहें, इसके लिये उनका एक गीता के विषय में लिखा छोटा सा निबन्ध जो मुझे प्राप्त हो सका है, उसे मैं अगले पृष्ठ पर पाठकों की भेंट करता हूँ।

विदुषां वशंवदः

रघुनाथदत्त बन्धुः

मंत्री विद्वत्परिषद्

सनातन धर्म प्रतिनिधि सभा पंजाब

समुद्र कूल

जुहु (बाम्बे)

वसन्त पञ्चमी सं० २००६

## ❀ गीतामृत ❀

(पूज्य चरण ऋषिकल्प स्वर्गीय श्री पं०दौलतराम जी द्वारा लिखित निबन्ध)

### १ गीता नाम का निर्णय

एक से अधिक ज्ञान पुस्तकों का नाम गीता है, जैसे "रामगीता" "अष्टावक्रगीता" आदि, परन्तु केवल गीता शब्द सहसा श्रीमद्भगवतगीता का ही बोधक होता है, इसलिये इसी शिरोमणी गीता पर यह लेख है।

### २ गीता का आद्यस्थान

भारतवर्ष के प्रसिद्ध ऐतिहासिक तथा धार्मिक ग्रन्थ महाभारत में भीष्म पर्व का अन्तरीय विभाग २५ वें अध्याय से ४२ वें अध्याय तक गीता नामक पर्व है। उसके अर्जुन विषादयोग से लेकर संन्यासयोग तक १८ अध्यायों में ७००[1] श्लोक हैं, यही पृथक् रूप सेश्री मद्भगवगीता नाम से प्राचीन काल से स्वतन्त्र रूप से सारे विश्व का अपने अद्वितीय ज्ञान से कल्याण कर रहा है। भारतवर्ष में ही अनन्त इस पर भाष्य और टीकाऐं कुछ देववाणी संस्कृत में प्राचीन काल से पाई जाती हैं और अब हिन्दी भाषा में और हिन्दोस्तान की अन्तरीय देश भाषाओं में हो चुकी हैं और हो रही हैं। अंग्रेजी, जर्मन, फ़ारसी फ्रैंच आदि दूसरे देशों की भाषाओं में भी तर्जुमे हो चुके और हो रहे हैं। यह है गीता के "सर्व श्रेष्ठ" होने का प्रवल प्रमाण।

---

(१) गीता रुयैः सप्तभिः श्लोकशतैः, इति। श्री शंकराचार्यः

## ३ गीतोपदेश के पश्चात् युद्ध का आरम्भ

उक्त महाभारत ग्रन्थ में लिखे इतिहास से हमें यह भी दिखलाई देता है, कि गीता उपदेश के समय युद्ध नहीं हो रहा था, क्योंकि उपदेश की समाप्ति पर अर्जुन ने कहा है "स्थितोऽस्मि गतसन्देद:" (गी० १८।७३) तभी महाभारत के भीष्म पर्व ४३ वें अध्याय से भीष्मादि के संवाद का आरम्भ होता है। भाव यह है, कि फिर [2]अर्जुन के रथ का कपिध्वज निशान खड़ा किया गया। फिर युद्ध के लिये शङ्खादि वजने शुरु हो गये।

तो इतने में राजा युधिष्ठिर अपने शस्त्रादि उताकर शत्रु सेना की ओर चल पड़े, उसके भाई भी उसके साथ हो लिये, भीष्म पितामह जी के [3]चरण छूकर उनके साथ युद्ध करने की आज्ञा मांगी, जिस पर प्रसन्न हो, भीष्मपितामह जी ने आज्ञा भी दी और जय प्राप्ति का आशीर्वाद भी दिया। ऐसे ही [4]द्रोणाचार्य [5]कृपाचार्य और [6]शल्य आदि

---

(२) ततोधनंञ्जयं दृष्ट्वा वाणगाण्डीव धारिणम्।
पुनरेव महानन्द व्यसृजन्त महारथा:। महा भी० अ० ४३

(३) तमुवाच तत: पादौ कराभ्यां पीड्य पाण्डव:।३६
आमन्त्रयेत्वांदुर्धर्ष त्वया योत्स्यामहे सह।
अनुजानीहिं मां तात आंशिषश्च प्रयोजय ३७।
प्रीतोऽहं पुत्र युध्यस्व जययाप्नुहि पाण्डव।३९। महा भीष्म प० अ० ४३

(४) महा भीष्म प० अ० ४३।५२ से ५४

(५) महा भी अ० ४३।६६ से ७४। (६) महा भी० अ० ४३।७८से८०।

से आशीर्वाद पाकर राजा युधिष्ठिर वापिस अपनी सेना में आये और युद्ध आरम्भ हुआ। इससे सिद्ध होता है, कि गीता उपदेश पूर्ण हो चुकने के पश्चात् युद्ध शुरु हुआ और जब कि इस समय भी हम सारी गीता का पाठ शान्ति से २ से २॥ घंटों में समाप्त करते हैं, तो यह प्रश्न नहीं उठता, कि युद्ध में ऐसा गम्भीर उपदेश कैसे हो सका।

उक्त इतिहास को न जानकर और भगवान् कृष्ण और वेदव्यास जी की दिव्य शक्ति से अनभिज्ञ, जो कोई ऐसा अनुमान भी कर बैठते हैं, कि युद्ध होते समय भगवान् ने संक्षिप्त रूप में गीता उपदेश अर्जुन को किया और पश्चात् मुनि वेदव्यास जी की कृपा से वही उपदेश विस्तार रूप में गीता बनकर हमें मिला। वे भी मुनि वेदव्यास जी के ऐसे [1]निश्चित शब्दों को जैसे "श्री भगवानुवाच, अर्जुन उवाच" आदि को अपनी ओर से लिखे गये, कह कर असत्य का दोष लगा कर कृतघ्नता करते हैं।

वेदव्यास जी ने केवल कविता करके यह ज्ञानमय संवाद महाभारत में प्रथित किया है। भाव और शब्द जिसकी ओर से लिखे हैं, वे इत्थम् ही हैं।

## ४ गीतोपदेश का इतिहास

द्वापर युग के अन्त में जब स्वयं भगवान् कृष्ण रूप में प्रकट होकर "धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे (गी० ४—८) के अनुसार

(१) योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्। गी० १८।७५।

अपने स्वाभाविक धर्म का पालन कर रहे थे। उस समय कुरु राजवंश में दो भ्राता राज्य के अधिकारी थे। एक पाण्डु जिसकी सन्तान पाण्डव कहलाई और दूसरे धृतराष्ट्र जिसकी सन्तान कौरव कहलाई, पाण्डु राज्य त्याग कर बन को चले गए और धृतराष्ट्र जो अन्धा था, उनकी आज्ञा से राज्य चलता रहा। पांडव पांच भाई थे (युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, और सहदेव,) और कौरव बहुत भाई थे, जिनमें मुख्य दुर्योधन राजा थे। इन दोनों पक्षों में बचपन से ही ईर्षा चली आई, पाण्डव स्वभावतः सात्विक बुद्धि और नीति में अधिक योग्यता रखते थे और कौरव कुटिल नीति रखते थे। कौरवों के अत्याचार का संक्षिप्त वर्णन यह है। [1]दुर्योधन ने भीमसेन को खाने में विष दिलाया और बेहोश हुए को [2]गंगा नदी में धकेल दिया, पर वह बच गया। पाण्डवों की अधिक कीर्ति और प्रजा का उनमें अधिक प्रेमसहन न करते हुए धृतराष्ट्र ने उनको कुछ समय [3]"वारणावत" नगर में रहने की आज्ञा की, और दुर्योधन ने उस नगर में इनके जाने से पहले इनके रहने के लिए कुटिलता से एक [4]लाख का घर बनवा रखा, कि जब पाण्डव वहां जा रहें और [5]सोते हों, तो आग लगा कर वह घर जला दिया जावे और इस छल से पाण्डव भस्म हों, परन्तु

---

(१) ततो दुर्योधनः पापस्तद्भक्ष्ये काल कूटकम्।
विषं प्रक्षेपयामास भीमसेन जिघांसया:। महा० अ० १२८।४५।

(२) महा आदि अ १२८।५४, (३) अ० १४५।८।

(४) अ० १४६।१०, (५) अ० १४६।१६।

नीतिज्ञ विदुरजी ने पाण्डवों को इस गुप्त मन्त्र से सचेत कर दिया और पाण्डवों ने उसमें [1]सुरंग बनवाली, जिससे वे बाहर निकल आये और बच गए।

इस प्रकार पाण्डव वन में कुछ काल [2]क्षत्रियोचित वेशभूषा अलंकार त्याग कर ब्राह्मण वेश में रहने लगे और उसी रूप में अर्जुन ने द्रौपदी [3]स्वयंवर जीता और द्रुपद ने उनको अपनाया। यह जानकर राजा धृतराष्ट्र ने पाण्डवों और कौरवों में द्वेषाग्नि शान्त करने के लिये उनमें [4]आधा २ राज्य बांट दिया। पाण्डवों ने अपनी राजधानी खाण्डवप्रस्थ और कौरवों ने हस्तिनापुर ही रक्खी। पाण्डवों ने अपना राज्य बहुत बढ़ा लिया और [5]"राजसूय" यज्ञ किया जिसमें सब राजा आये, दुर्योधन ने पाण्डवों का वह ऐश्वर्य [6]सहन न किया और अपने [7]मामा की बतलाई कुटिल नीति से जूआ खेलने के लिए [8]युधिष्ठिर को भाइयों के सहित बुलाया और छल कपट से सारी सम्पत्ति को, पांचों [9]पाण्डवों को और महारानी [10]द्रौपदी को जीत लिया। इसके परिणाम रूप में महारानी द्रौपदी को अपनी सारी राज सभा में [11]नग्न करने का यत्न किया। द्रौपदी की इस आर्त

---

(१) महा आदि अ० १४०।१२।, (२) अ० १४८।३।, (३) अ० १६०।२८।
(४) अ० २०६।२६।, (५) महा० सभा प० अ० ३६ श्लो १७।
(६) अ० ४७ श्लो २६।, (७) अ० ४८ श्लो २१।, (८) अ० ५७ श्लो ५।
(९) अ० ६५।६ से श्लो० ३०।
(१०) अ० ६५ श्लो ४१।, (११) अ० ६८ श्लो ४०।,

अवस्था में [1]भगवान् ने चीर रूप में रक्षा की। यह अत्याचार दुर्योधन का महाभारत के घोर युद्ध का अटल कारण बन गया और पाण्डवों के लिए यह युद्ध करना अनिवार्य धर्म ही बन गया।

इस अत्याचार से उत्पन्न हुई द्वेषाग्नि को शान्त करने के लिए राजा धृतराष्ट्र नें पाण्डवों को [2]स्वतन्त्रता दे दी और अपने राज्य में [3]वापस जाने की आज्ञा दी, परन्तु अपने पुत्र कौरवों के कहने पर फिर [4]जूआ खेलने को बुला लिया और उसमें [5]शर्त यह रखी कि जो पक्ष हार जाय वह १२ वर्ष का वनवास और एक वर्ष अज्ञात वास करे। कुटिलता से पाण्डव हार गये और वन को चले गये।

पाण्डवों के १२ वर्ष बनवास और एक बर्ष अज्ञातवास बीत चुकने पर उन्होंने अपना आधा [6]हिस्सा राज वापिस मांगा, जो कौरवों ने न दिया, इससे युद्ध करना निश्चित हुआ।

दूसरे राजाओं की सहायता प्राप्त करने के लिये दोनों पक्ष कौरव और पाण्डव यत्न करने लगे। कृष्ण जी को लेने के लिये [7]अर्जुन आप द्वारका गया और जब यह दुर्योधन को मालूम हुआ तो वह भी श्री कृष्ण को अपनी तर्फ़ युद्ध में लाने गया। दोनों एक

---

(१) महा सभा अ० ६८ श्लो ४७,
(२) अ० ७१ श्लो २८ से ३२ तक, (३) अ० ७३ श्लो १६।
(४) अ० ७४ श्लो २४।, (५) अ० ७६ श्लो १०–११
(६) महा उद्यो प० अ० १।२५।
(७) अ० ७ श्लो० २

समय में ही कृष्ण जी के राजभवन में गये। श्रीकृष्ण उस समय सोरहे थे। प्रथम दुर्योधन अन्दर गया और कृष्ण जी के सिरहाने बैठ गया, फिर गया अर्जुन और कृष्ण जी के पाओं की ओर बैठ गया। जागने पर कृष्ण जी ने पहिले अर्जुन को देखा और फिर दुर्योधन को देखा और कुशल पूछने के बाद जब आने का कारण पूछा, तो दुर्योधन ने कहा, कि होने वाले युद्ध में आप हमारा पक्ष लें। दोनों पक्ष आपको एक से हैं, परन्तु मैं पहले आया हूँ इसलिए हमारा पक्ष लें।

[1]कृष्ण जी ने उत्तर दिया, कि तुम पहिले आये हो, और अर्जुन को हमने पहले देखा है, इस कारण हम दोनों पक्षों की सहायता करेंगे। एक और हमारी नारायणी सेना होगी, वह युद्ध करेगी, दूसरी ओर हम अकेले होंगे, पर न तो हम लड़ेंगे और न हथियार उठायेंगे। पहिले अर्जुन को मौका दिया गया, कि वह इसमें से ज़ो चाहे उसको ले ले। अर्जुन ने प्रसन्नता से अकेले श्री कृष्ण जी को लेना स्वीकार किया और दुर्योधन कृष्ण जी की लड़ने वाली नारायणी सेना को पाकर बड़ा प्रसन्न हुआ।

दुर्योधन के [2]चले जाने पर श्री कृष्ण ने अर्जुन से पूछा कि यह जान कर भी कि मैं लडूंगा नहीं, तुमने मुझे क्यों अपने पक्ष में लिया? अर्जुन ने उत्तर दिया, कि सेना लेने के लिये मैं नहीं आया था, परन्तु आप ही को लेने आया था, क्योंकि मैं अकेला ही युद्ध में

(१) महा उद्यो अ० ७ श्लो० ७ से २० तक
(२) महा० उद्यो प० अ० ७ श्लो० ३४।

कौरवों का संहार कर सकता हूं। आपकी अद्वितीय नीति युक्त सम्मति और मङ्गल कामना से ही हमें जय प्राप्त होगी, परन्तु मेरा इतना मनोरथ अवश्य पूरा करें, कि युद्ध में आप मेरे [1]सारथी बनें। कृष्ण जी ने प्रसन्नता से मानकर कहा, ऐसा ही होगा।

इस प्रकार अन्य राजाओं की सहायता लेने पर [2]कौरव पक्ष में ११ अक्षौहिणी सेना इकट्ठी हुई और [3]पाण्डव पक्ष में ७ अक्षौहिणी सेना इकट्ठी हुई।

## ५ पाण्डव पक्ष का सन्धि प्रयत्न करना

राजा द्रुपद ने पाण्डवों की ओर से अपने [4]पुरोहित को कौरवों के पास सन्धि करने के लिये भेजा और सन्धि प्रार्थना में भली प्रकार कौरवों के अत्याचार पाण्डवों पर और पाण्डवों का दुःख सहन करना और १२ वर्ष वनवास एक वर्ष अज्ञातवास आदि प्रतिज्ञा से उत्तीर्ण होकर और अपने आधे हिस्से का राज्य मांगना सूचित किया और युद्ध होने से कुलक्षय की सम्भावना भी दिखलाई गई।

---

(१) सारथ्यं तु त्वया कार्यमिति मे मानसं सदा। महा०उ०अ० ७ श्लो० ३७

(२) भीष्म अ० १६। श्लो २४।

(३) अ० १६ श्लो० २६।

(४) अ० ६ श्लो।१८।

इस पर राजा धृतराष्ट्र ने अपने [1]मन्त्री संजय को भेजा, कि वह पाण्डवों को इस युद्ध से विमुख करे। संजय के ऐसा संदेश देने पर पाण्डव राजा युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि, हम युद्ध से बचने के लिये सन्धि करना चाहते हैं, ताकि कुल क्षय न हो और कौरवों के किये सब अत्याचारों को भुला देंगे।

यदि कौरव हमारा हिस्सा आधा राज्य जो हमारे पास था, वह सारा न भी दें, और हम पांच भाइयों को [2]केवल पांच ग्राम ही देदें तो हम कुलक्षय कारक युद्ध न करेंगे।

संजय का लाया हुआ उक्त संदेश राजा धृतराष्ट्र ने अपनी सभा में भीष्मादि की सम्मति से दुर्योधन को सुनाकर इस सन्धि को स्वीकार करने के लिये बहुत कहा, परन्तु दुर्योधन ने यह देखकर कि अब पाण्डव अपना सारा हिस्सा राज छोड़ कर केवल पांच ग्राम लेना चाहते हैं, उनकी निर्बलता प्रकट की और सन्धि करना मन्जूर न किया।

उक्त समाचार मिलने पर युधिष्ठिर ने श्री कृष्ण से कहा कि युद्ध में हम चाहे हारें या कौरव हारें; दोनों परिणामों में कुलक्षय हमारा ही होगा। आप दोनों पक्षों का हित चाहने वाले हैं। इसलिये आप से हम श्रेयस्कर युक्ति जानना चाहते हैं। इस पर [3]श्री कृष्ण ने कहा, कि धर्मराज! युद्ध आरम्भ होने से पहले हम स्वयं

---

(१) महाभारत उ० प० अ० २२।३६।

(२) अ० ७२ श्लो० १४–१६।, (३) अ० ७२ श्लो० ७६।

हस्तिनापुर जाकर दोनों पक्षों के हित के लिये अन्तिम चेष्टा करना चाहते हैं।

## ६ श्री कृष्ण का दूत रूप में सन्धि के लिये प्रयत्न

श्रीकृष्ण स्वयं [1]सात्यकि को साथ लेकर हस्तिनापुर पहुंचे। राजा धृतराष्ट्र को उनकी राजसभा में भली प्रकार युद्ध का भयंकर परिणाम राजकुलक्षय आदि कह कर दोनों पक्षों के हितार्थ सन्धि करने की सम्मति दी।

कौरवों के अत्याचार (१) कपट से जूआ खेलना (२) भरी सभा में द्रौपदी को नग्न करने की नीचता का यत्न (३) तेरह वर्ष का बनवास (४) भीम को विष देना (५) कपट से लाख गृह बनाकर उसमें पाण्डवों को वास देकर जला देने का घोर अत्याचार ( जो निष्फल रहा। ) पाण्डवों की सहन शीलता और प्रतिज्ञा से उत्तीर्ण होकर अब अपने राज्य विभाग लेकर सन्धि चाहना। सब कहा। राजा धृतराष्ट्र और भीष्मादि मुख्य अधिकारियों ने भी कृष्ण जी की इस हितकारी नीति को सराहा। दुर्योधन की [2]माता ने भी दुर्योधन को यह स्वीकार करने पर जोर दिया। पर दुर्योधन न माना। अन्त में कृष्ण जी ने दुर्योधन को कहा, कि यदि तुम समझते हो, कि अर्जुन को युद्ध में तुम हरा दोगे, तो अपने पक्ष में से किसी एक वीर को अर्जुन के साथ द्वन्द्व युद्ध के लिए चुनलो; उन दोनों के युद्ध का

(१) महा० उ० अ० ८३ श्लो २२१, [२] उद्यो अ० १२६।१८।

जैसा परिणाम हो, उसी के अनुसार दोनों पक्षों की हार जीत का निश्चय करो; ताकि बाकी सब का नाश न हो। यदि यह मानलेने का साहस न हो, तो राज्य का जो हिस्सा पाण्डवों को मिलना चाहिये उनको दे दो। इससे दोनों पक्षों का कल्याण होगा।

इस पर राजा [1]धृतराष्ट्र, [2]भीष्म पितामह और [3]द्रोणाचार्य सबने श्री कृष्ण की इस सम्मति की प्रशंसा की और दुर्योधन को इस सन्धि को स्वीकार करने के लिये कहा।

इन सब बातों को सुनकर भी दुर्योधन ने सन्धि करने से इनकार ही किया। इन शब्दों में कि "कुछ भी हो हम क्षत्रिय हैं, [4]शत्रु के सामने सिर नीचा करने की अपेक्षा लड़ाई के मैदान में वीरों के योग्य शय्या पर सोना ही हम अधिक अच्छा समझते हैं" [5]सूई की नोक से जितनी भूमि छिद सकती है, उतनी भी हम पाण्डवों को देने के नहीं, इससे चाहे हमारे कुरुकुल और क्षत्रियों का नाश हो जावे, चाहे हमारा सारा साम्राज्य नष्ट हो जाय, इसकी मुझे कुछ भी परवाह नहीं"।

इस पर श्री कृष्ण जी ने कहा, कि हे दुर्योधन! तुम जो वीरों के योग्य [6]शय्या पर सोने की इच्छा रखते हो, वह तुम्हारी इच्छा समय आने पर अवश्य पूर्ण होगी, जब पाण्डवों के द्वारा घायल होकर

---

[१] उद्यो अ० १२५।२२। [२] अ० १२५।२ [३] अ० १२५।६।
[४] महा उ० प० अ० १२७ श्लो १७ [५] अ० १२७ श्लो २५।
[६] अ० १२८।२।

रणभूमि में लोटते फिरोगे, तब फिर यह बातें कहते न बनेगीं।

कृष्ण जी से ऐसे झाड़े जाने पर [1]दुर्योधन सभा से उठकर चला गया, तब कृष्ण जी भीष्मपितामह, द्रोणादि महात्माओं को ऐसे बोले, कि महात्माजन! इस समय कुल के क्षय होने से बचने का उपाय एक ही है और वह यह कि आप सब [2]दुर्योधन को त्याग दें और उसके सहित शकुनि और दुःशासन को पकड़ कर पाण्डवों के हवाले करदें। तब सन्धि स्थापित होकर कुल की रक्षा हो सकेगी। अन्यथा नहीं। श्री कृष्ण के इस प्रस्ताव से राजा धृतराष्ट्र बहुत डर गये और दुर्योधन की माता [3]गान्धारी को बुला भेजा। गान्धारी ने आकर भी दुर्योधन को बहुत प्रकार से समझाया, कि सन्धि प्रस्ताव को स्वीकार करे और पाडवों के राज्य का हिस्सा उनको देदे। माता की बात सुनकर भी [4]दुर्योधन ने कुच्छ उत्तर न दिया और सभा से चल दिया और बाहिर आकर कर्ण, शकुनि और दुःशासन के साथ कृष्ण जी को [5]कैद करने की गुप्त सलाह करने लगा। यह बात [6]सात्यकि को मालूम हो गई। उसने श्री कृष्ण के कानों में आ सुनाई तब श्री कृष्ण ने सभामें ही धृतराष्ट्र से कहा, कि सुनते हैं, दुर्योधन हमें बलात्कार से कैद कर लेने का विचार कर रहा है। परन्तु आप लोग हमारी सबलता—निर्बलता को भले प्रकार जानते हैं,

---

[१] उ०अ० १२८ श्लो० २८। [२] अ० १२८ श्लो० ४८ [३] अ० १२९ श्लो० २। [४] महा० उ० अ० १३० श्लो० १। [५] अ० १३० श्लो० ५। [६] अ० १३०।१३।

अतएव आप सहज ही जान सकेंगे, कि कौन किसको कैद कर सकता है ? आप भय न करें, हम इस वक्त दूत होकर आये हैं, इसलिये दूत धर्म छोड़कर किसी को दण्ड देना नहीं चाहते।

श्री कृष्ण जी के ऐसे वचन सुनकर दुर्योधनादि को [1] फिर सभा में बुलाया गया, उनके आने पर विदुर जी ने श्री कृष्ण जी के बल पराक्रम और तेज का वर्णन करके उन्हें समझाया, कि कृष्ण जी से अनुचित वर्ताव करके मृत्यु को निमन्त्रित मत करो।

श्री कृष्ण ने दुर्योधन को भय दिखलाने के लिये [2]ज़ोर से हंस दिया। जिससे चारों ओर एक [2]दिव्य तेज फैल गया। सब लोग चकित रह गये। उसी समय श्री कृष्ण जी उठकर बाहिर आये और अपने रथ पर सवार हो गये। उस समय धृतराष्ट्र ने आकर अपनी [3]असमर्थता प्रकट की। इस पर श्री कृष्ण जी ने सभासदों को कहा, कि सन्धि स्थापित कराने के लिये हम आये थे, राजा धृतराष्ट्र स्वाधीन नहीं हैं और दुर्योधन दुर्भाग्यवश सन्धि करना नहीं चाहता।

अत एव अब युद्ध के सिवाय दूसरा कोई मार्ग नहीं। ऐसा कह कर सब की अनुमति से उन्होंने अपना रथ चलाया और [4]कर्णकोसाथ ले, नगर से बाहर चले और कर्ण को वापस करते हुए, द्रोण, भीष्म, कृप और धृतराष्ट्र को यह संदेश दिया "यह मास युद्ध के लिये बड़े सुभीते का है। इसलिये आज से सातवें दिन [5]अमावास्या को युद्ध होगा।"

---

[१] उ० अ० १२० श्लो० ३०। [२] अ० १३१ श्लो० ४।
[३] अ० १३१।३२। [४] अ० १४० श्लो० १। [५] अ० १४२ श्लो० १८।

उक्त सन्धि प्रयत्न की निष्फलता पर युद्ध कर्तव्य धर्म निश्चय किया गया और कुरुक्षेत्र की रणभूमि में दोनों पक्षों की सेना स्थित हुई। युद्ध आरम्भ से पहिले रणभूमि में पाण्डवों में मुख्य रण का अध्यक्ष और योधा अर्जुन अपने सारथी तथा मन्त्री श्री कृष्ण के साथ अपने रथ में दोनों सेनाओं के [1]मध्य में सेना बल देख रहा था, कि दोनों सेनाओं में अपने स्वजन और गुरुजन मरने मारने के लिये खड़े पाये। जिसका परिणाम उनका वध, चिन्तन करके उसका चित्त खिन्न हो गया और अंग शिथिल हो गये। यह अपने धर्म-कर्म युद्ध से उपराम हो गया। श्री कृष्ण ने गीतोपदेश देकर उसका मन स्वस्थ किया, जिससे फिर युद्ध [2]धर्म में वह प्रवृत हुआ। राजा धृतराष्ट्र की इच्छा अनुसार उनके मन्त्री संजय को वेद व्यास जी ने दिव्य [3]दृष्टि और दिव्य श्रवण शक्ति दी। जिससे संजय ने सारा युद्ध का वृतान्त राजा धृतराष्ट्र को सुनाया। (गीता अ० १८ श्लो० ७५ "व्यास प्रसादात्")। उसमें प्रथम कारण सुहृद् भगवान् का अर्जुन को गीतोपदेश करना सुनाया, पश्चात् उसका परिणाम युद्ध वृन्तात सुनाया।

## ७ महाभारत युद्ध की हिंसा में अहिंसा

इस ऐतिहासिक विवरण को यहां लिखने का प्रयोजन केवल यह दिखलाना है, कि कौरवों के अत्याचारों से धर्म ग्लानि और अधर्म

---

[१] गी० १।२७। [२] गी० १८।७३। [३] भीष्म प० अ० २।१०।

का अभ्युत्थान इतना बढ़ चुका था, कि कृष्ण जी के स्वयं यत्न करने पर भी कि सन्धि हो, युद्ध न हो, युद्ध रोका जा न सका।

पाण्डवों के लिये यह युद्ध अनिवार्य होकर स्वधर्म रूप में कर्तव्य बन गया था, परन्तु अर्जुन इस अपने कर्तव्य पालन में स्वजनों और गुरु जनों का प्रत्यक्ष वध देखता था, जिससे भय-भीत, शिथिलाङ्ग होकर वह मोह में अपने स्वधर्म कर्तव्य को छोड रहा था। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के इस मोह में "अहिंसा धर्म का दुरुपयोग होते देखकर उसे गीतोपदेश से अपने स्वधर्म कर्तव्य में प्रवृत किया।

आज हमारे समय में विश्व व्यापी घोर [1]युद्ध ५ वर्ष से हो रहा है। अनगिनत ही जीवों का वध हो चुका है और हो रहा है। न तो कोई प्रवल धर्म कारण उसकी कर्तव्यता सिद्ध करता है और न कोई पक्ष सन्धि का यत्न ही करता है। प्रत्यक्ष अनुमान सर्व जनता यही करती है, कि लड़ने वाले देश व राज्य केवल एक दूसरे पर बलात्कार से अपना स्वामित्व स्थापित करने के लिये लड़ रहे हैं और युद्ध के नियमों के विरुद्ध अन्धाधुन्ध, न लड़ने वाली प्रजा व स्त्री आदि को भी फूंक रहे हैं।

महाभारत का युद्ध जो पाण्डवों के लिये कर्तव्य बन गया था, ऐसा न था और उसका परिणाम जो श्रीमद्भगवद्गीता उपदेश

---

१ नोटः—यह लेख दूसरे महा युद्ध के समय सन् २२–३–४५ को लिखा गया था।

"ज्ञान [1]मयः प्रदीपः" प्रज्वलित होकर सदा के लिये विश्व का कल्याण कर रहा है। यही उस युद्ध की सफलता है।

## ८ गीतोपदेश की विलक्षणता

जिज्ञासु के जानने योग्य कुछ बातें–

गीता में श्रीकृष्ण जी से कहा गया "अस्मद् (मैं-मेरा) शब्द प्रायः भगवान् की सर्वव्यापी ईश्वरीय सत्ता बोधक है। भगवान् के कृष्ण रूप को अवतार भी नहीं, बल्कि "कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" ईश्वर ही माना गया है। "मैं" शब्द का अर्थ "मैं-ईश्वर" ही किया जाता है। जिज्ञासु को यही धारणा उचित है, क्योंकि गीता का ईश्वर सर्व-व्यापक है और सर्वाधार है। उसके "व्यक्ति" (प्रकाश) का भेद अधिष्ठान की अधिकता वा न्यूनता के भेद से भिन्न २ दिखाई देता है। इस लिये जहां अधिष्ठाता (ईश्वर) अधिष्ठान (शरीर) में पूर्ण-तया प्रकाश करे, वहां उसके "पुरुषोत्तम रूप में ईश्वर भावना योग्य ही है (गी० अ० ४ श्लो० ६) यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण से युक्त दिखाई देता है, परन्तु जो जिज्ञासु ऐतिहासिक कृष्ण और उसकी व्यापक सत्ता ईश्वर में भेददृष्टि रखते हों। वे केवल गीतोपदेश को अनुभव हुआ ईश्वरीय ज्ञान ही सम्मुख रखें और लाभ उठावें। मैं अपनी अव्यक्त मूर्ति से इस सारे जगत में व्यापक हूँ। सारे भूत (जड़ चेतन) मेरे में स्थित हैं। आश्रित हैं और मैं उनके आश्रित नहीं हूँ। (गी० ६ स्लो० ४) यह ईश्वर से कहा गया

---

१ गीताध्यान श्लोक २ में देखें।

हो सकता है, किसी जीव से नहीं। इस प्रकार ईश्वर ही को वक्तारूप में सम्मुख रखते रहने से वैज्ञानिक दृष्टि स्वयं आ जायेगी। यह ज्ञान स्वयं मनुष्य मात्र के लिये है, साम्प्रदायिक नहीं। गीता ज्ञान ऐसा ही 'अनन्त' है, जैसा इसके वक्ता का हृदय जिससे यह निकलता है, परन्तु एक उत्साह और शांति दायक गुण यह इसका है, कि यह मनुष्य मात्र का अपना स्वाभाविक ज्ञान जाग्रत करता है और स्वाभाविक धर्म दिखलाता है, जिससे हर एक जिज्ञासु अपने सहज धर्म को विना परिश्रम, अधिकार अनुसार पा लेता है। जिज्ञासु में श्रद्धा का होना मुख्य उपाय सिद्धि का है।

## ९ गीतोपदेश का व्यापकत्व

गीतोपदेश यद्यपि कुरुक्षेत्र की रणभूमि में होने से एक ऐतिहासिक घटना है, परन्तु इसमें शिष्य एक आदर्श मनुष्य अर्जुन और गुरु स्वयं भगवान् कृष्ण, और उपदेश का विषय "ब्रह्मविद्या" होने के कारण यह उपदेश अपने व्यापक रूप में सदा के लिये सर्व मनुष्य मात्र के वास्ते सर्वार्थ सिद्धि कर्ता संवाद जीव और ईश्वर का है। गीता के जिज्ञासु को स्वयं अर्जुन बनकर गीता का अध्यन करने से जगद्गुरु निश्चित अनुभव ज्ञान गीतोपदेश का देता है।

## १० गीतासांग अध्ययन

गीता सर्व शास्त्रमयी मानी गई है और सांख्य योगादि ६ शास्त्र इसके अङ्ग होने के कारण इसमें देखने से एक रूप ही

हो जाते हैं। जैसे सब नदियां समुद्र में मिलकर एक ही रूप धारण करती हैं। परन्तु गीता के संयुक्त दो अङ्ग और हैं, जो अध्ययन में अतिलघु और भाव में गीता का सारांश हैं तथा गीता के उपदेश के समझने की योग्यता जिज्ञासु को देते हैं। वे ये हैं :—

(१) गीता के अङ्गादि न्यास। (२) गीताध्यानामृत।

इन दोनों का संक्षिप्त भाव यहां लिखा जाता है। इससे जाना जाता है, कि गीता मनुष्य मात्रका कल्याण करती है और अद्वैतामृत के देनेवाली है।

## ११ गीता [1]करादि वा अङ्गादिन्यासः

(१) इस गीता मन्त्र माला के ऋषि भगवान् वेद व्यास हैं। (२) अनुष्टुप् छन्द है। (३) श्री कृष्ण परमात्मा देवता हैं (४) जिसका शोक नहीं करना चाहिये उसका तू शोच करता है, यह बीज है। (५) सब धर्मों को त्याग कर एक मेरी शरण ले, यह शक्ति है। (६) मैं तुमको सब पापों से मुक्त करूंगा, तू मत शोचकर। यह कीलक (अटल सत्य) हैं। यह उपदेश अपने इस ऐतिहासिक रूप में तो अर्जुन की चिन्ता निवारण करने के लिए है और अपने व्यापक रूप में मनुष्य मात्र के शोच निवारण के लिये है।

इससे आगे मनुष्य के शरीर, दोनों हाथ के अंगुठे और अंगुलियां एक २ गिन कर और सिर ज्ञानेन्द्रियां गिन कर उनमें अविनाशी ईश्वरीय सत्ता का व्यापक होना स्मरण किया गया है

---

[1] पृष्ठ (xxxxv) पर देखें।

जैसे शस्त्र "काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकता" वायु सुखा नहीं सकता इत्यादि। तात्पर्य यह कि जिज्ञासु गीता अध्ययन में अपने अंग २ में व्यापक अविनाशी ईश्वरीय सत्ता का ध्यान करके अध्ययन करे।

"न चैनं क्लेदयन्त्यापः इति शिर से स्वाहा" (स्व=स्वस्य, आ=समन्तात, हा=त्यागः) तात्पर्य व्यक्त अहंभाव को सम्पूर्णतया ईश्वरार्पण करके अपने को ईश्वरीय अविनाशी सत्ता से धर्म कर्तव्य में लगना। यही इस अङ्गन्यास में गीता उपदेश का सारांश दिखलाया गया है। जो मनुष्य मात्र के लिये है और उसको अपने में अविनाशी आत्म सत्ता दिखलाकर मृत्यु के भय का नाश करना भी है=हम स्वयं अनुभव करते हैं, कि हमारे देह इन्द्रियादि का व्यापार ईश्वरीय सत्ता "प्रकृति" पर चल रहा है। सूर्य के बिना हम जीवित नहीं रह सकते। ईश्वरीय सत्ता का व्यापक इंद्रियों में होना सिद्ध ही है। केवल उसको अनुभव करवाना इस अङ्गन्यास मन्त्र का प्रयोजन है।

## १२ गीता [१]ध्यान

१—इसके पहिले श्लोक में गीता को सम्बोधन "माता" शब्द से करके स्तुति की गई है, कि स्वयं नारायण भगवान ने अर्जुन को अपना ज्ञानोपदेश किया और पुराण मुनि वेद व्यास जी ने आपको महाभारत ग्रन्थ में ग्रथित किया। आप अद्वैतामृत की वर्षा करती हैं १८ अध्याय ज्ञानोपदेश वाली भगवती हों। हे भगवद् गीते, अम्ब!

---

[१] पृष्ठ xxxxvi पर देखें।

मैं आपको मन में धारण करता हूं। आप "भवद्वेषिणी हो" अर्थात व्यक्तिगत "अहंभाव" वा अस्मद् पद को सर्वात्मा में लय करने वाली हो। ऐसे सर्व आत्म बल अपने में धारण करना मनुष्य मात्र के लिये खुला है।

नं० २ श्लोक में भगवान् वेद व्यास जी के उपकार की कृतज्ञता प्रकट की गई है, जो उचित ही है। इसमें विशेषण जो "फुल्लार-विन्दायत-पत्र-नेत्र" दिया गया है "फूले हुए कमल पत्र जैसे नेत्र) उसका भाव वही है, जो गी० अ० ५ श्लोक १० में दिया गया है (पद्मपत्रमिवाम्भसा) अर्थात व्यास जी विशाल बुद्धि और नेत्र रखते हुए, विविध दृष्ट के गुण अवगुण से अलिप्त रह कर उसका विवरण सत्य लिखते हैं। यह ही अनासक्त वृत्ति गीतोपदेश है, जो मनुष्य मात्र के लिये है और कल्याण कारक है।

नं० ३ श्लोक में जो "ज्ञान मुद्राय" विशेषण भगवान् कृष्ण को दिया गया है, उसका अर्थ और भाव है "ज्ञान की मोहर" (*Seal of Wisdom*) गीतोपदेश पर वह ही श्रीकृष्ण नाम की मुद्रा वा मोहर है।

नं० ४ श्लोक में कृष्ण को उपनिषद् रूपी गौओं का सारांश दूध गीतोपदेश दोहने वाला कहा गया है। इसमें संशय नहीं, बल्कि गीता में एक विशेषता है, वह है, उस ज्ञान रूपी दूध का "विनियोग" जो घोर कर्म युद्ध में करके दिखलाया। इसके बिना यह उत्तम दूध (ज्ञान) निष्फल रहता।

नं० ५ श्लोक में प्रकट किया गया है, कि श्री भगद्गीता का विज्ञान प्रदाता [1]वही भगवान् कृष्ण है, जो पिता वसुदेव और माता देवकी के पुत्र रूप में प्रकट होकर जगद्गुरु माना गया और पूजन किया गया है। उस कृष्ण की ज्ञान मुद्रा को प्रणाम करना प्रशंसनीय हैं। प्रत्यक्ष रूप में उसे पाने का यह मुख्य रास्ता है।

श्लोक ६ से ९ तक ईश्वर स्तुति है, जिससे जिज्ञासु का मन गीता ज्ञान प्राप्ति की योग्यता पाता है।

## १३ विषय

१८ अध्याय में से हर एक अध्याय के अन्त में उसका विषय इस प्रकार दिया हुआ है :—

उपनिषदों में (सारांश) श्री भगवद्गीता में, ब्रह्मविद्या में, योगशास्त्र में श्री कृष्ण अर्जुन संवाद में अध्याय विषय आदि (अर्जुनविषाद योगोनाम प्रथमोऽध्याय:)

---

१—गीता का वक्ता ढूंढता हुआ एक योरपीयन विद्वान् रिसर्चस्कलार लिखता है :—"The auther of Gita goes in obsecurity but whosoever He is I bow down to him in is His Gita."

२—संक्षिप्त व्याख्यान श्रीमद्भगवतगीता माला मंत्र से

## १ अध्याय

राजा धृतराष्ट्र अपने मन्त्री संजय से पूछते हैं, कि हे संजय! धर्मक्षेत्र कुरु क्षेत्र में युद्ध करने की इच्छा से इकट्ठे हुए मेरे पुत्र (कौरव) और पांडु के पुत्र पाण्डवों ने क्या किया?

उत्तर में संजय ने दोनों ओर की सेनाओं का अपने २ व्यूह वनाकर स्थित होना और युद्ध की तैयारियों में शंखादि बाजे बजाना बतलाकर कहा, कि उस बक्त अर्जुन ने अपने सारथी श्री कृष्ण को कहा, कि मेरा रथ दोनों सेनाओं के मध्य में ले चलो, जिससे मैं जान सकूं, कि मुझे कहां किसके साथ लड़ना उचित है। कृष्ण जी ने रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में खड़ा किया और भीष्म, द्रोण और दूसरे राजाओं के सम्मुख करके बोले-हे अर्जुन! इन कौरवों को देखो।

अर्जुन ने वहां दोनों सेनाओं में अपने स्वजनों सम्बन्धियों को देखा और उन स्वजनों को देख कर बड़ी कृपा से दुःखी हुआ,! और बोला। हे कृष्ण! इन स्वजनों को युद्ध के लिए यहां स्थित देखकर मेरे अङ्ग शिथिल हो रहे हैं, मुख सूखता है, हाथ से गांडीव धनुष गिर रहा है, खड़ा नहीं रहा जाता, मन घबरा रहा है। मैं स्वजनों को मारने में कोई कल्याण नहीं देखता। मैं त्रैलोकी के राज्य के वास्ते भी इनको मारना नहीं चाहता, चाहे आप मारा जाऊं। कुल नाश करने का परिणाम दोष कह कर और अन्त में यह कहा। अहो!! हम यह महापाप कर रहे हैं, जो

राज्य सुख लोभ से अपने स्वजनों को मारने का उद्योग कर रहे हैं। ( अ० १ श्लो० ४६ ) यदि मुझ नामुकाविला करते और शस्त्र न धारण किये को कौरव स्वयं शस्त्र धारण किये रण में मार डालें, तो मेरे लिये अच्छा होगा।

(गी० अ० १ श्लो ४७) रणभूमि में ऐसा कह कर अर्जुन रथ में पीछे की ओर आसन पर धनुषवाण छोड़ कर बैठ गया।

ध्यान रहे, कि अर्जुन के हृदय का उक्त भाव सात्विक है। आगे चलकर (गी० अ० १६ श्लो० ५) भगवान् स्वयं कहेंगे। मत शोचकर तू दैवी संपद् में उत्पन्न हुआ है, जो मोक्ष देती है। पर ऐसा होने पर भी इस कर्तव्य धर्म के छोड़ने में भगवान् इस दैवी संपत् का दुरुपयोग पाते हैं और आगे लिखा प्रश्न करते हैं।

## २ अध्याय

करुणा से दवे हुए, आंसुओं से भरे व्याकुल नेत्रों वाले और शोकातुर अर्जुन को श्री कृष्ण यह बोले—हे अर्जुन ! इस संकट के अवसर में तुमको यह मन की गिरावट कहां से मिली। यह अनार्यों से सेवित है, स्वर्ग की विरोधी और अपयश देने वाली है। तुम नपुसंक मत वनो, यह तुम्हारे योग्य नहीं है, हृदय की क्षुद्र दुर्वलता को छोड़ कर उठ खड़े हो।

## श्री कृष्ण जी का विचारणीय प्रश्न

अर्जुन युद्ध में कुलक्षयादि पाप दिखलाकर इस घोर कार्य से निवृत्ति करता है और कृष्ण जी उसे पूछते हैं, कि वह "संकट" में

क्यों घबराता है! और उसे युद्ध में प्रवृत्त करते हैं। साधारण दृष्टि से उनका यह प्रश्न अनुचित दिखलाई देगा, उनको जो पूर्ववृतान्त से अनभिज्ञ हैं। कारण यह कि कौरवों के कुटिल अत्याचार अत्याधिक हो गये थे और सन्धि के सारे यत्न निष्फल रहे, कृष्ण जी का स्वयं दूत बनकर जाना भी निष्फल रहा। इस कारण से युद्ध अनिवार्य और धर्म कर्तव्य निश्चित किया जा चुका था। दूसरे यह कि अर्जुन जो कुलक्षय में कुल धर्म का नाश दिखलाता है, वह युक्ति इसमें नहीं बनती, क्योंकि कुल में कौरवों का अत्याचार कुलके जीवन में ही धर्म को नाश कर रहा था। उस धर्म की स्थापना और रक्षा के लिये युद्ध निश्चित हुआ था। राज्य प्राप्ति तो एक निमित्त मात्र थी। पाण्डव तो अपना हिस्सा आधा राज्य पहले ही छोड़ चुके थे। केवल ५ ग्राम मांगते थे, पर कौरवों ने यह भी न माना था, जिससे युद्ध कर्तव्य कर्म निश्चित किया गया।

### संकट में मन की गिरावट वा घबराहट क्यों ?

यह भी अनोखापन प्रश्न का अंग है, क्योंकि मन की व्याकुलता का कारण संकट अवसर ही हुआ करता है "परन्तु प्रश्न की योग्यता इस विशेषण ने करदी है "अनार्यजुष्टं" एतत् त्वयि न उपपद्यते" यह अनार्यों से सेवित है, तुम्हारे योग्य नहीं (क्योंकि तुम आर्य हो) आर्य का अर्थ श्रेष्ठ।

कर्तव्य माचरन् कार्य मकर्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्रकृताचारे स एवार्य इति स्मृतः ॥ (वा० प०)

(जो कर्तव्य ही करे, अकर्तव्य में आचारण न करे, स्वभाव नियत आचार में स्थित रहे, वही आर्य माना गया है।

(गी० २।७) अर्जुन अपनी कृपा वा कृपणता के दोष को प्रकट करके कर्तव्यस्वभाव से विमुख होना मानकर कृष्ण जी की शरण जाता है और श्रेय का मार्ग पूछता है। श्री कृष्ण मुस्कराते हुए उपदेश-ऐसे करते हैं।

## बीज—मन्त्र

(क) (अध्याय २। श्लो० ११) – जिन का शोक नहीं करना चाहिये, उनका तू शोक करता है, परन्तु बातें बुद्धि की करता है। जिनके प्राण चले गये हों (मरे हुए) और जिनके प्राण न गये हों (जीवित हों) पण्डित (ज्ञानी) उनका शोक नहीं करते।

भावार्थ—अर्जुन रणभूमि में स्थित दोनों ओर की सेना में अपने स्वजन, गुरुजन तथा बान्धव देखकर और संग्राम का परिणाम उनका मारा जाना विचार कर इसमें कुल क्षयादि पाप देखकर युद्ध से उपराम होता है और साथ ही धर्म क्या है, यह व्याकुलता में पूछता है। इस पर कृष्ण जी का यह उत्तर कि यद्यपि तुम बुद्धि की बात करते हो, तथापि तुम्हारा शोक करना अनुचित है, क्योंकि बुद्धिमान् (पण्डित) किसी के प्राण चले जाने का या रह जाने का शोक नहीं करते। साधारण दृष्टि में जो केवल वादरत हों, और भाव न देखें, उन्हें यह उत्तर एक अनोखा वा अन्यथा दीखता है। पर विचार दृष्टि से तो प्रत्यक्ष है, कि युद्ध धर्म रूप और अनिवार्य निश्चित हो

चुका है। अब युद्ध-संग्राम में धर्म पालन क्या है? शत्रु को मार डालना या उससे मारा जाना। इसमें पण्डित मरने मारने का शोक नहीं करते। अर्जुन जो शोक कर रहा है। वह मोह है और अहिंसा-धर्म का दुरुपयोग है। जिससे धर्म अधर्म हो जाता है। जैसे कि यज्ञ, दान, तप विधानोक्त धर्म के मुख्य रूप माने गये हैं, परन्तु उनके यथार्थ बरताव (विनियोग) के बिना वह अधर्म हो जाते हैं। और हिंसादि विधि-वर्जित पाप कर्म भी धर्म युद्धादि कर्तव्य में विनियोग पाकर धर्म हो जाते हैं। इसी भाव के तत्व को श्री कृष्ण अपने उक्त उत्तर में अर्जुन को निमित्त मात्र रखकर मनुष्य मात्र के कल्याणार्थ प्रकट करते हैं।

## आत्मा देहके पैदा होने से पहले था और देहान्त पर पीछे रहेगा

(ख) (गीता अ० २ श्लो० १२) श्री कृष्ण अर्जुन को कहते हैं "क्या मैं पहले कभी न था, तू (अर्जुन) न था, या ये राजा कभी पहिले न थे। ऐसा नहीं है और आगे को क्या हम कभी न होंगे, यह भी नहीं है। अर्थात् इस वर्तमान (दृश्य) जीवन से पहले भी हम थे और इससे पीछे भी हम होंगें।

(ग) (गीता अ० २ श्लोक २७ में)—"जन्मे हुए की मृत्यु अवश्य है, और मरे हुये का जन्म अवश्य है, इस अटल परिणाम पर तुमको शोक करना उचित नहीं"। यह मृत्यु के भय को मनुष्य मात्र के लिये दूर करता है और प्रचलित मत सभी मानते हैं, कि देहान्त पर देही

नाश नहीं होता। पुनर्जन्म स्वतःसिद्ध है, क्योंकि मरकर जीव अव्यक्त अवस्था में हो जाता है और उसी अवस्था से सबको जन्म लेते हम देखते हैं।

## परिणाम

(घ) (गी० २ श्लोक ३१ से ३८ तक) स्वधर्म पालन में सुख और न पालन में दुःख दिखलाया गया है। चाहे स्वधर्म का वाह्य रूप कुछ भी हो, यह मनुष्य मात्र का कल्याण कारक है।

## सांख्य और योग का समुच्चित विनियोग

(ङ) गीता में सांख्य और योग शास्त्र के मुख्य भाव लिये हैं (१) बुद्धि धर्म और (२) मनसहित इन्द्रिय धर्म। इन दोनों का समुच्चित विनियोग (इकट्ठा लगाना) गीतोपदेश का सारांश है। (अ० २ श्लो० ३६। अ०३ श्लो० ३। अ०५ श्लोक ४)। मन की वासना को बुद्धि का अनुयायी रखना और बुद्धि को "स्थित प्रज्ञ" रखना "स्वधर्म" और उसके विनियोग के साधन हैं। अ० २ श्लो० ४० से ६३ कत नियम और साधन दिये हैं। इनमें से कुछ विशेष ध्यान योग्य हैं। ये मनुष्य मात्र के कल्याण कारक उसके स्वाभाविक धर्म को दिखलाते हैं।

(च) (गी० २ श्लोक ४२) "वेद वादरताः" अर्थात् जो वेद के "वाद" शब्द ही को ग्रहण करते हैं, उसके भाव को नहीं समझते।

(छ) (२ श्लोक ४६) "यावानर्थ उदपाने" ...

भावार्थ—सर्वतः संप्लुतोदके उदपाने यावान् अर्थः, विजानतः ब्राह्मणस्य सर्वेषु वेदेषु तावान् (अर्थः)

'उदपान' "उदकपान" जल पीने का स्थान। इसमें किसी का अर्थ जल पान करके अपनी प्यास बुझाने का ही हो सकता है। ऐसे ही विजानतः (विज्ञ) ब्राह्मण वेद में से ज्ञानामृत पीकर शान्ति लेता है (कर्मकाण्ड के अधिकारी भले ही अपनी रुचि अनुसार कर्मफल लेवें) वेद स्वयं [1]संप्लुतोदक है!

(गी० २ श्लोक ५३) श्रुतिविप्रतिपन्ना .... यदास्थास्यति। भाव अर्थात् यदा विप्रतिपन्ना भवति, श्रुति के भाव को न प्राप्त हुई बुद्धि जब भाव ग्रहण करेगी।

एक प्रसिद्ध बौद्ध लीडर ने कटाक्ष इन श्लोकों पर किया कि:— वेद की न्यूनता गीता ने की है और कोई दूसरे भी ऐसा कहते हैं। इसलिए इन पर लिखा जाता है, कि सर्व भद्र है, गीता वेद को अपौरुषेय मानती है (देखो अ० १७ श्लो० २३।)

## अ० ३ कर्म योग

"स्थित प्रज्ञ" के लक्षण सुनकर और उनसे आन्तरिक ज्ञानानन्द वा चित्त शान्ति का महत्व सुनकर अर्जुन पूछता है। हे [2]कृष्ण! जब आप "कर्म" से ज्ञान को श्रेष्ठ मानते हैं, तो मुझे घोर कर्म युद्ध में क्यों लगते हो? आपके मिले जुले शब्दों से मेरी बुद्धि

(१) सब प्रकार से परिपूर्ण। (२) गीता अ० ३।१-२।

भ्रमित सी हो गई है। इसलिए एक निश्चित बात कहें। जिससे मैं कल्याण प्राप्त कर सकूं।

(अ० ३ श्लो० ५) श्री [1]कृष्ण उत्तर देते हैं. कि एक क्षण मात्र भी कोई पुरुष कर्म करने के विना नहीं रह सकता, क्योंकि प्रकृति के गुण इससे अवश्य कर्म करवाते हैं।

(अ० ३ श्लो० ८) तू अपने नियत (स्वभावनियत) कर्म को कर क्योंकि कर्म छोड़कर तो शरीर की यात्रा ही नहीं चलती।

## विचार

पानी में तहरना किसी को यदि निर्जल स्थान (गृह वा कौलिज) में बातों ही में सिखलाया जाय, कि 'ऐसे हाथ पाओं चलाना और शरीर को ढीला छोडना इत्यादि और फिर उसे गहरे जल में प्रवेश कराया जावे, तो वह डूब जायेगा। अतः तहरना जल में ही सिखलाया जा सकता है। ऐसे संसार समुद्र का तहरना संसार के घोर से घोर कर्म में सिखलाना सिद्धि देता है। जो कृष्ण जी ने उत्तर अपने शब्दों में दिया।

## यज्ञकर्म विधान और देवता

(अ० ३ श्लोक १० से ११ तक) यज्ञ कर्म सृष्टि उत्पत्ति के साथ ही उत्पन्न करके प्रजापति ने कहा, कि इससे तुम वृद्धि को प्राप्त करो और

अपनी इच्छित कामना पावो। यज्ञ तुम्हारे से देवता प्रसन्न हों और वे तुमको प्रसन्न करें। परस्पर बल देते हुए तुम परम कल्याण को प्राप्त हो।

## उक्त पर विचार

यज्ञ शब्द तो व्यापक रूप में सारे परोपकार और ईश्वरापर्ण किये कर्मों का बोधक है और वेदोक्त अग्नि होत्रादि का भी बोधक है परन्तु देवता शब्द के भाव को जिज्ञासु के लिये यहां लिखना सार्थक होगा। गीता के अध्याय १० विभूति योग में ईश्वर के विश्व स्वरूप में व्यापक उसकी अपनी भिन्न २ रूप प्रकृति ([1]सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि आदि को) व्यक्ति रूप में व्यापक चेतन सत्ता (जीव भूतां मे) परां प्रकृतिं विद्धिः। (अ० ७ श्लो० ५) को देवता कहा गया है। ऐसे ही जैसे मनुष्य देह में भिन्न २ इन्द्रियां चेतनता एक आत्मा को भिन्न रूप में प्रकट करती हैं—ये प्रत्यक्ष ही है और मनुष्य मात्र के कल्याण के लिये हैं।

## विश्वव्यापी यज्ञ और वैदिक अग्नि होत्र

(गी० अ० ३ श्लो० १४ से १५) "अन्न से जीव होते हैं, वर्षा से अन्न, यज्ञ से वर्षा और यज्ञ कर्म से होता हैं। कर्म ब्रह्म से पैदा हुआ जान और ब्रह्म अक्षर से, इसलिये सर्व व्यापक ब्रह्म नित्य यज्ञ में स्थित है"।

---

(१) गीता अ० १०।२१-२३-३१

यह विश्व में यज्ञ स्वयं [1]विश्वपति नित्य कर रहा है। प्रत्यक्ष सूर्य रूप अग्नि कुण्ड में विश्वपति यज्ञ कर रहा है। जिसका परिणाम वर्षा आदि होते हैं। वैदिक "अग्निहोत्र" इसी का छोटा रूप बना कर आहुति दी जाती है और ईश्वर स्मरण किया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है।

## स्वधर्म

(गी० अ० ३ श्लोक ३५) अपना धर्म विगुण होता भी करना श्रेष्ठ है, दूसरे के धर्म को भली प्रकार करने से। अपने धर्म पालन में मर जाना भी श्रेष्ठ है, दूसरे के धर्म में भय है। भावार्थ-देश, काल और वस्तु के अनुसार नियत जो अपना कर्तव्य कर्म हो, उसको पालन करना। चाहे, वह कष्ठ साध्य हो।

## ज्ञान विभाग ४ अध्याय

इस अध्याय में पूर्वोक्त कर्म योग के जिज्ञासु के हृदय पर भली प्रकार जतलाने के लिये भगवान् अपनी प्रत्यक्ष विभूति सूर्य को सर्वोत्तम आदर्श कर्मयोगी होना दिखलाते हैं। [2]सूर्य से मनु आदि ने यह योग प्राप्त किया। बहुत समय व्यतीत होने पर वह "कर्मयोग" मनुष्यों ने विस्मरण किया और अधर्म फैल गया। जिससे भगवान्

---

(१) यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञ मतन्वत।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्म: शरद्धवि:। ऋग्वेद १०।९०।६। वा० यजु० ३१। १४। अथर्व १९।६।१०। तै० आ० ३।१२।५।
(२) गीता अ० ४।१ से ३।

ने स्वयं कृष्ण स्वरूप में प्रकट होकर अब अर्जुन को निमित्तमात्र रखकर फिर वह कर्मयोग मनुष्य मात्र के कल्याणार्थ प्रकट किया।

भगवान् के अवतार प्रकट होने पर विचार सफः xvi पर "गीतोपदेश की विलक्षणता" में किया जा चुका है। अब अवतार होने के कारण कहते हैं। (गी०अ० ४ श्लो० ७) जब २ धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म की वृद्धि होती है, तब २ मैं अपने आपको पैदा वा प्रकट करता हूँ।

(अ० ४ श्लोक ८) साधुजनों की रक्षा के लिये और पापी जनों के नाश के लिये मैं समय समय पर प्रकट होता हूं।

(अ० ४ श्लोक १४) मुझे कर्म लिप्त नहीं होते, क्योंकि कर्मफल इच्छा से मैं कर्म नहीं करता, केवल कर्तव्यता का पालन करता हूं।

(अ० ४ श्लो० १८) जो कर्म में अकर्म देखता है और अकर्म में कर्म को, मनुष्यों में वही बुद्धिमान् है और वही पूर्ण कर्म करने वाला (कृतकृत्य) होता है।

## विचार

(गीता अ० ४ श्लो० २४ से ३० तक) भिन्न २ यज्ञों के रूप दिये हैं, और (अ० ४श्लो० ३१ में) सम्पूर्ण यज्ञ का फल लिखा है। सारे यज्ञ विचित्र भाव रखते हैं और स्वाभाविक कर्तव्य हैं। मनुष्य मात्र के कल्याण कारक हैं। परन्तु अवकाश न होने से यहां केवल (अ० ४ श्लो० ३२) यज्ञफल का भाव लिखा जाता है, (अ० ४ श्लो० ३१) "यज्ञ का शिष्ट (शेष] अमृत भोक्ता सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। यज्ञ न करने वाले का यह लोक नहीं, तो परलोक कहां?

भाव—शिष्ट वा शेप "अमृत" का भाव है, परिणाम, जो "अमृत" ही हुआ करता है। वह है-मन का 'प्रसाद"। "प्रसादे सर्वदुःखानां हानि रस्योपजायते। (गीता अ० २ श्लोक ६५)" यज्ञ का मुख्य उद्देश होता है, ईश्वर प्रसन्नता प्राप्ति। जिसमें जीव मात्र का कल्याण चाहना स्वभाविक हो जाता है। किसी के दुःख को यत्न से दूर करके, कर्ता को स्वयं प्रसन्नता होती है और अपने कर्त्तापन का ध्यान नहीं आता। वह यज्ञ शेष ही अमृत है।

## अध्याय ५

(अ० ५ श्लोक १४-१५) इस लोक (जगत) का प्रभु जगत का सारा प्रबन्ध करता हुआ भी न कर्त्तापन को न कर्मों को, और न ही कर्म और फल के मिलाप को अपने में उत्पन्न करता है। ईश्वर किसी के न पाप और न पुण्य को ग्रहण करता है। यह ज्ञान जीवों के अज्ञान से ढका हुआ है। जिससे वह मोह (दुःखादि) को प्राप्त होते हैं। इनमें ईश्वर की सधर्मता धारण करने का मनुष्य मात्र को उपदेश है और यह सर्वोत्तम कर्म-योग है।

(अ० ५ श्लोक १८) "विद्या-विनय-संपन्न-ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता, नीच जाति के मनुष्य सब में पण्डित (ज्ञानी) समदर्शी होते हैं।

भावार्थ—आत्म तत्व दृष्टि में तो समदृष्टि सिद्ध ही है। इन सबको ईश्वर में और ईश्वर को इन सबमें देखता ज्ञानी सबमें प्रेम रखेगा ही, परन्तु व्यवहार में यदि वह तत्ववेत्ता इन सबको पृथक् २

स्वभावानुसार, पृथक् वर्ताव न करे, तो समदृष्टि का दुरुपयोग होगा। गौ, कुत्ता, हाथी. इन से सम वर्ताव की असम्भवता प्रत्यक्ष है। मनुष्यों में भी योग्यता देखनी ईश्वरीय नियमानुसार है। यथायोग्य वरताव ही समता सिद्ध करता है। दृष्टान्त वैज्ञानिक दृष्टि से तथा वर्तमान समय के साईन्स की दृष्टि से-सारे भिन्न २ रंग जो हम देखते हैं, वे सूर्य के प्रकाश (धूप) में स्थित, सात रंगों का विकार हैं। नियम यह जाना गया है, कि जो वस्तु जिस २ रंग को प्रतिविम्वित कर देती वा सूर्य को लौटा देती है, उनका मिश्रित रंग उस वस्तु का रंग हमको दिखाई देता है और जो रंग वह नहीं लौटाती। वह उसे खो बैठती हैं परिणाम यह कि जो बस्तु सारे रंग प्रतिविम्वित करती है। वह श्वेत सूर्य की तरह होती हैं और जो कोई रंग नहीं लौटाती। वे काली होती हैं - इस वैज्ञानिक दृष्टि से तो पण्डित (ज्ञानी) समदर्शी होता ही है, कि एक सूर्य के प्रकाश (धूप) बिना और कोई रंग हैं ही नहीं; परन्तु यदि प्रत्यक्ष व्यवहार में ऐसा अनुभव करे, तो नेत्र रोग ही माना जायगा, जिससे इसे वे कई एक रंग दिखलाई नहीं देते और डाक्टर से इलाज करवाना होगा।

## अध्याय ६

(गी० अ० ६।४) मनुष्य अपने आपका आप ही उद्धार करे। अपने आपको (आत्मा को) गिरावे नहीं, क्योंकि आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है।

भाव व्यक्ति रूप आत्मा (अहंभाव) का उद्धार उसे परमात्मा के अर्पण करके परमात्मा की सत्ता अपने में अनुभव करना सर्वोत्तम

उपाय है। अङ्कन्यास में विधान किया जा चुका है। ऐसे आत्म बल वाले मनुष्य का कोई शत्रु प्रथम होता ही नहीं और यदि हो जाय तो उस शत्रु को ही नीचा देखना पड़ता है। (दृष्टांत स्वयं अर्जुन (पांडव) और दुर्योधन प्रत्यक्ष हैं।) मनुष्यमात्र का कल्याण कारक यह गीता नियम है।

## अध्याय ७

(गी० अ० ७ श्लोक २६) जरा और मरण से मोक्ष के लिये जो मनुष्य मुझ ईश्वर का आश्रय लेकर यत्न करते हैं, वह (मेरे) उस ब्रह्मरूप को जानते हैं, सम्पूर्ण अध्यात्म को और सारे कर्म को जानते हैं।

भाव—ध्यान रहे, कि यहां शब्द जरा मरण है (जन्म मरण नहीं) जरा मरण से मोक्ष (अपना और अपनों का) हम सभी चाहते हैं और नित्य इसी की प्राप्ति के यत्न में रहते हैं। हम देहाध्यास से देह ही बने हुए हैं। इस अपने आपको जरा मरण से मुक्ति चाहते ही हैं। गीता में कोई नवीन यत्न नहीं कहा, परन्तु इस हमारे नित्य के यत्न में एक ऐसी युक्ति बतलाई है, कि जिसके धारण करने से हमें वास्तविक स्वास्थ्य और आत्म बल प्राप्त हो और उसका परिणाम वह मोक्ष प्राप्त हो, जिसके लिए ज्ञानी और योगी सदा यत्न करते रहे हैं। वह युक्ति प्रत्यक्ष शब्दों में यह है, कि अपने नित्य की सांसारिक जीवन यात्रा के यत्नों में हम पूर्णतया आश्रय ईश्वर का

उत्सहाय युक्त चित्त से लेवें। 'मा माश्रित्य' ऐसा जीवन व्यवहार-कर्त्ता मनुष्य, निर्भय सत्याचरण रखेगा। जिससे यह लोक और परलोक दोनों में सिद्धि प्राप्त होगी।

## अध्याय ८

(गीता अ० ८ श्लोक १३) ओ३म् इस एक अक्षर ब्रह्म का उच्चारण और मुझ ईश्वर (ओं के भाव वा नाम) को स्मरण करता हुआ जो (जाता वा प्राप्त होता है) देह के त्याग के भाव, (देहाध्यास रहित भाव) वह परम गति को जाता (प्राप्त करता) है।

भावार्थ—हो सकता है, कि कोई योगी देहांत के समय ऐसी वृत्ति रख सके, परन्तु यह गीता उपदेश स्वस्थ मन इन्द्रियों के होते हुए प्रयोग में लाने का भाव विशेष रखता है। जिससे कर्म योगी, वा ध्यान योगी, दोनों ही अपने २ कर्तव्य को करते हुए "कृत कृत्य" हो सकें। मनुष्यमात्र के लिये यह गुह्य परन्तु सुगम उपाय इसी भाव से हो सकता है और हो रहा है। संध्योपासना में (ओं) का "सर्व कर्मारम्भे विनियोगः" जो विधान है, उसी भाव से यह स्वस्थ अवस्था में प्रयोग उचित हैं, अक्षरार्थ भी अनुकूल है।

## ओं—उपासना

ओम्—उपासना अनादि काल से वैदिक उपासना चली आ रही गीता में ब्रह्म का वाचक (गी० अ० १७—श्लोक २३)।

बौद्ध धर्म की उत्पत्ति इसी विश्वव्यापी धर्म से होने से उसने यथावत् इसे अपनाया है।

क्रिश्चन मत में कुछ अल्पतर उच्चारण भेद से प्रार्थना के अन्त में यह "एमैंन" बोला जाता है। भाव लिया जाता सत और क्राईस्ट ( New Teste ment ).

ऐसे ही भाव से "मुसलम" मत में यह "आमीन" उच्चारण किया जाता है। भाव यहां यह कि गीता का सारा उपदेश विश्वव्यापी है।

## अध्याय ८ श्लोक २३ से २७ शुक्ल, कृष्ण काल मार्ग विचार

इनमें शुक्ल, कृष्ण वा उत्तरायण, दक्षिणायन काल, मार्ग योगी के कहे गये हैं। एक में प्रकाश विशेष, दूसरे में उसका अभाव, परन्तु इस दूसरे में चान्द्रमस ज्योति रखी है। एक में से वापिस न आना और दूसरे से वापिस आना फल दिये हैं। गीता के कई एक विद्वानों ने इन "काल" मार्गों का गीता में लिखाजाना अन्यथा कहा है, युक्ति यह दी है, कि अध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति में वाह्य कलादि, स्थल अवस्थाओं का असर होना सम्भवतः नहीं। इसमें तो मत भेद है, परन्तु यहां इस विचार में यह दिखलाना है, कि मनुष्य के व्यक्तिगत रूप देह में विश्वप्रकृति की चेतन सत्ताओं का भिन्न २ अङ्गका देवता होना माना है, जैसे सूर्य बुद्धि (दिमाग) के देवता और चन्द्र मन का देवता। इन अध्यात्मिक देवताओं

से जो शुक्ल (ज्ञान) और कृष्ण (अज्ञान) पक्ष बदलते हैं। इस स्थान में गीता का भाव उनमें योगी की स्थिति का फल दिया गया है। एक ज्ञान तथा श्रेय मार्ग है। दूसरा प्रेय मार्ग मनवासनाओं का है, "प्रयाता" शब्द के अर्थ [1]प्राप्त करना भी हैं।

## अध्याय ९ श्लोक २३

देवता पूजन जब ईश्वर ही का पूजन भगवान् ने कहा। "तेऽपिमामेव यजन्ति" तो फिर अविधि पूर्वक इसका होना क्यों ?

"येऽप्यन्य देवता भक्ताः" जब ईश्वर से देवता को अन्य उपास्य माना जावे, तब अविधि है। जब ईश्वर ही की उसमें भावना हो, तो विधि है। नेत्र, कानादि, इन्द्रियों में सब एक आत्मा ही की उपासना है।

## अध्याय १० श्लोक ३६

"द्यूतं छलयतामस्मि" इसमें जूऐ का भाव छल रूप में होना दिखलाया गया है। खेलने वाला अपने साथ खेलनेवालों की हानि (विना अपराध) और अपना लाभ (बिना योग्यता) के चाहता रहता है। यही कुयोंग हैं (योग के विरुद्ध)। खेलने वालों की सबसे बड़ी हानि आत्म हनन होता है।

---

(१) या धातु गत्यार्थं है, और गति के ज्ञान, गमन औरप्राप्ति तीनों अर्थं हुआ करते हैं।

## अध्याय ११ श्लोक ४६–५०

चतुर्भुज रूप भगवान् का विष्णु स्वरूप हैं, जो अर्जुन का इष्ट था। शंख, चक्र, गदा, पद्म, लक्ष्य हैं। शंख=धर्म (ओंध्वनि) चक्र कर्म चक्र (एवं प्रवर्तितं चक्रं" गी० ३।१६। अर्थ प्राप्ति)। गदा=संयम तथा शासन = कामना सिद्धि। पद्म=अनासक्ति "पद्म पत्र मिवाम्भसा" (गीता अ० ५।१०।) यह पहले दिखला कर फिर सौम्य मनुष्य रूप दिखलाया।

## अध्याय १६ श्लोक २४

कर्तव्य अकर्तव्य वा कार्य अकार्य का ज्ञान-।।

श्री कृष्ण—अर्जुन को कहते हैं, कि कार्य–अकार्य के निश्चय में शास्त्र प्रमाण लेकर कार्य (कर्म) करो।

## विश्वव्यापी प्रश्न का उत्तर

## अध्याय १७ श्लोक १

अर्जुन पूछता है, कि जो मनुष्य शास्त्र की विधि की परवाह न करते हुए, पूर्ण श्रद्धा से यज्ञ करते हैं। उनकी निष्ठा क्या है? सात्विक, राजस, वा तामसिक। भगवान् उत्तर देते हैं, कि सबकी श्रद्धा अपने २ स्वभाव के अनुरूप होती। मनुष्य श्रद्धामय है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती हैं, वैसे ही वह होता है। भगवान् आगे श्रद्धा के सत्, रज, तम भेद से रूप दिखलाते हैं और साधन कहते हैं। जिससे सात्विक श्रद्धा हो। अन्त में भगवान् कहते हैं, कि

(श्लो० २३. २४ २५, २६, २७, २८) "ओं तत्सत" इन शब्दों से ब्रह्म का स्मरण किया गया है। पहिले से उस ब्रह्म ने ब्राह्मण, वेद और यज्ञ, विधान किये। इस लिये "ओं" उच्चारण करके विधानोक्त कर्म ब्रह्मापर्ण किये जाते हैं।

भावार्थ—यह कि शास्त्र प्रमाण लेना, जो भगवान् ने कहा था, उससे वेद शास्त्र प्रमाण हैं, परन्तु उसमें ओं (ईश्वर) के विधान किये की श्रद्धा पूर्ण होना आवश्य है। ईश्वरीय विधान की श्रद्धा के बिना जो आहुति दी जाय, दान दिया जाय, जाप, तप किया जाय, वह असत कहा जाता है। इससे न इस लोक में और न परलोक में लाभ होता है। परिणाम यह कि मुख्य ईश्वर पर आस्तिकता है। उससे जो श्रद्धा उत्पन्न हो, वह सात्विक तथा शास्त्र प्रामाणिक होगी।

## अध्याय १८

यह अध्याय सारे गीतोपदेश का उपसंहार है=(गीता अ० १८ श्लो० ६१-६२-६५) सार हैं, ईश्वर सबके हृदय मेंस्थित सबका नियन्ता है। पूर्णभाव से उसकी शरण ले। उसकी कृपा से परम शांति प्राप्त होगी "मुझे ईश्वर के मन वाला हो, मेरा यजन कर और मुझे नमस्कार कर। (अ० १८श्लोक ६६) सारे धर्मों का त्याग कर मुझ ईश्वर की शरण ले। मैं (ईश्वर), तुमको सब पापों से मुक्त करूंगा (मा शुचः) मत शोक कर। यह उपदेश अर्जुन को निमित्त मात्र रख कर मनुष्य मात्र के लिये

है। जिन कर्मों में मनुष्य की अपनी बुद्धि निश्चय रूप से स्वाभाविक कर्तव्यता धर्म देखती है। उनको करना और जिनमें वह अकर्तव्यता देखती है। उनका त्याग करना और जहां अपनी बुद्धि निश्चयात्मिक नहीं हो सकती, वहां निश्चित शास्त्र का विश्वस्त पुरुष से पूछना और सबसे उत्तम यह कि अपने आप में स्थित ईश्वर की शरण आकर पूछने का अभ्यास करना। ईश्वर मनुष्य की बुद्धि को प्रकाश देता है, जो मनुष्य अनुभव करता है।

## लेख का उपसंहार

मजमून का विषय दो विभागों में बांटा गया है।

(१) गीता मनुष्य मात्र की उन्नति और कल्याण के लिये है।

(२) गीता ज्ञान से मनुष्य मृत्यु के भय से निर्भय हो जाता है। ये दोनों विषय व्यापक रूप रखते हैं। इसलिये इस लेख में गीतोपदेश का "सर्वहित होना" दिखलाने का यत्न किया गया है। संक्षिप्त उत्तर उद्देश्य के पहले (१) विभाग का यह पाया जाता है, कि है तो यह मनुष्य मात्र के कल्याण के लिये, परन्तु इसके अध्ययन का अधिकार उस की योग्यता प्राप्त करने पर ही सफल होता है।

नं० २ (दूसरे) विभाग का मृत्यु के भय से निर्भयता मिलने का गीता के प्रथम अध्याय से दिखलाया गया है, कि अर्जुन पहले ही अपनी मृत्यु से निर्भय ही नहीं, बल्कि उसे चाहता था और अपने स्वजनों की मृत्यु से भय भीत था और जगत में बहुत मनुष्य आत्म हनन

करलेते हैं। अज्ञान में या किसी सांसारिक दुःख को न सहन करने से। गीता ऐसी निर्भयता नहीं देती। मृत्यु का भय जगत में निरर्थक नहीं यह ईश्वरीय नियम जगत की रक्षा के लिये ही है। जैसे राजदण्ड फांसी आदि पापात्मिक मनुष्यों को मिलते हैं।

गीता सच्ची निर्भयता देती है। उसे, जो गीता ज्ञानामृत पीकर वाह्य मृत्यु से पहले ही मर जाता है। जैसे अ० ८ श्लो १३ की व्याख्या में दिखलाया हैं।

शुभम् कृष्णार्पणमस्तु

कोठी नं० ६२ एफ़ ब्लाक
माडल टौन, लाहौर।
१—४—४५

# गीता माहात्म्यम्

शौनक उवाच—गीतायाश्चैव माहात्म्यं यथावत् सूत मे वद ।
पुरा नारायणक्षेत्रे व्यासेन मुनिनोदितम् ।१।

सूत उवाच—भद्रं भगवता पृष्टं यद्धि गुप्ततरं परम् ।
शक्यते केन तद्वक्तुं गीता माहात्म्यमुत्तमम् ।२।

कृष्णो जानाति वै सम्यक् किञ्चित् कुन्ती–सुतः फलम् ।
व्यासो वा व्यास–पुत्रो वा याज्ञवल्क्योऽथ मैथिलः ।३।

अन्ये श्रवणतः श्रुत्वा लेशं संकीर्तयन्ति च ।
तस्मात् किञ्चिद्वदाम्यत्र व्यासास्यात् यन्मया श्रुतम् ।४।

सर्वोऽपनिषदो गावो दोग्धा गोपाल—नन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधी भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ।५।

सारथ्य–मर्जुनस्यादौ कुर्वन् गीतामृतं ददौ ।
लोक–त्रयोपकाराय तस्मै कृष्णात्मने नमः ।६।

संसार–सागरं घोरं तर्त्तुमिच्छति यो नरः ।
गीतानावं समासाद्य पारं यातु सुखेन सः ।७।

गीता ज्ञानेन संबोध्य कृष्णः प्राहार्जुनाय वै ।
भक्ति-तत्वं परं तत्र सगुणं चाथ निर्गुणम् ।८।

सोपानाष्टदशैरेव भक्ति — मुक्ति — समुच्छ्रितैः ।
क्रमशश्चित्तशुद्धिः स्यात् प्रेम — भक्त्यादिकर्मसु ।९।

साधु गीताम्भसि-स्नानं संसार-मल-नाशनम् ।
श्रद्धाहीनस्य तत्कार्यं हस्ति—स्नानं वृथैव तत् ।१०।

अनाचारोद्भवं पाप-मवाच्यादि कृतं च यत् ।
अभक्ष्य-भक्षजं दोष-मस्पर्श-स्पर्शजं तथा ।११।

ज्ञाना-ज्ञानकृतं नित्यमिन्द्रियैर्जनितं च यत् ।
तत् सर्वं नाश मायाति गीता-पाठेन तत् क्षणात् ।१२।

जनः संसार-दुःखार्त्तो गीता-ज्ञानं समालभेत् ।
पीत्वा गीतामृतं-लोके लब्ध्वा भक्ति सुखी भवेत् ।१३।

गीतासु न विशेषोऽस्ति जनेषूच्चावचेषु च ।
ज्ञानेष्वेव समग्रेषु समा-ब्रह्म-स्वरूपिणी ।१४।

॥ इति श्रीवैष्णवीय-तन्त्रसारे गीता माहात्म्मम् ॥

कृष्ण-पद्म समुभूता गीतामृत हरीतकी ।
मानुषैः किं न खाद्येत कलौ मलविमोचनी ।१५।

मल-निर्मोचनं पुसां जलस्नानं दिनेदिने ।
सकृद् गीताम्भसि-स्नानं संसार-मल-नाशनम् ।१६।

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्र-संग्रहैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिसृता ।१७।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे गीतामाहात्म्यम् ॥

## अथ ऋषिछन्दादि

१ ओं अस्य श्रीभगवद्गीता माला मन्त्रस्य भगवान् वेद व्यास ऋषिः ।
२ अनुष्टुप्छन्दः ।
३ श्री कृष्ण परमात्मा देवता ।
४ श्री कृष्ण प्रीत्यर्थें विनियोगः ।

## अथ बीजादि

१ अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे इति बीजम् ॥१॥
२ सर्वधर्मान् परित्यज्यमामेकं शरणं व्रज इति शक्तिः ॥२॥
३ अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच इति कीलकम् ॥३॥

## अथ कर–न्यासः

१ नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक इत्यंगुष्ठाभ्यांनमः ।
२ न चैनं क्लेदयंत्यापो, न शोषयति मारुत इति तर्जनीभ्यां नमः ।
३ अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव चेति मध्यमाभ्यां नमः ।
४ नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातन इत्यनामिकाभ्यां नमः ।
५ पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रश इति कनिष्ठिकाभ्यां नमः ।
६ नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि चेति करतलकर पृष्ठाभ्यांनमः ।

इति कर–न्यासः

---

(१) जिस विचार के आने के कारण ग्रन्थ बनाया गया हो वही उसका बीज होता । (२) ग्रन्थ में ध्येय तक पहुंचने का जो साधन कहा गया है, वही वहां शक्ति कहलाती है । (३) जिस भावना से मन में दृढ़ता आती है, वही कीलक हुआ करता है ।

## अथ हृदयादि-न्यासः

१ नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः इति हृदयाय नमः ।
२ न चैनं क्लेदयंत्यापो न शोषयति मारुत इति शिरसे स्वाहा ।
३ अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव चेति शिखायैवषट् ।
४ नित्यः सर्वगतः स्थाणु-रेचलोऽयं सनातन इति कवचाय हुम् ।
५ पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्त्रश इति नेत्र-त्रयाय वौषट् ।
६ नाना विधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि चेति अस्त्राय फट् ।

## अथध्यानम्

पार्थय प्रति-बोधितां भगवता नारायणेन स्वयं ।
व्यासेन ग्रथितां पुराण मुनिना मध्ये महाभारतम् ।
अद्वैतामृत—वर्षिणीं भगवती-मष्टादशाध्या.येनीम् ।
अम्ब ! त्वा-मनु संदधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ।१।

नमोऽस्तु ते व्यास विशाल बुद्धे ! फुल्लारविन्दायतपत्र नेत्र !
येन त्वया भारत-तैल-पूर्णः प्रज्वालितो ज्ञान मयः प्रदीपः ।२।

प्रपन्न—पारिजाताय तोत्त्र—वेत्रैक—पाणये ।
ज्ञान—मुद्राय—कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ।३।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपाल—नन्दनः ।
पार्थो-वत्सः सुधी भोक्ता दुग्धं गीतामृतं-महत् ।४।

वसुदेव-सुतं देवं कंस—चाणूर—मर्दनम् ।
देवकी परमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ।५।

भीष्म-द्रोण-तटा जयद्रथ-जला गांधार-नीलोत्पला ।
शल्य-ग्राहवती कृपेण-वहनी कर्णेन-वेलाकुला ।
अश्वत्थाम-विकर्ण—घोर—मकरौ दुर्योधनावर्तिनी ।
सोत्तीर्णा खलु पाण्डवैः रण-नदी कैवर्तकः केशवः ।६।

पाराशर्य—वचः सरोजममलं गीतार्थ-गन्धोत्कटं ।
नाना—ख्यानक—केसरं हरिकथा सम्बोधना—बोधितम् ।
लोके सज्जन—षट्पदैरहरहः पेपीमानं-मुदा ।
भूयाद्भारत—पंकजं कलिमल—प्रध्वंसि नः श्रेयसे ।७।

मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम् ।
यत् कृपा तमहं वन्दे परमानन्द—माधवम् ।८।

यं ब्रह्मा-वरुणेन्द्र-रुद्र—मरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैस्तवैः ।
वेदैः सांग-पद—क्रमोपनिषदैः गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थित तद्—गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः ।
यस्यान्तं न विदुः-सुरासुर-गणा देवाय. तस्मै नमः ।९।

॥ इति ध्यानम् ॥

ऋषिकल्प पूज्य श्री पिता जी की

# पुण्य स्मृति

में

॥ सादर समर्पित ॥

---

समर्पकः—

हरिदत्त वासुदेवः

❁ श्रीमद्भगवद्गीता–भाषा टीका ❁

## ॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

[1]धृतराष्ट्र उवाच :—

**१-धर्म-क्षेत्रे [2]कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।**
**मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत [3]सञ्जय ॥१॥**

धृतराष्ट्र ने पूछा :—

हे संजय ! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से इकट्ठे हुए मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया ।१।

---

(१) शान्तनु के पुत्र विचित्र वीर्य की अम्बिका और अम्बालिका दो रानियां थीं । अम्बिका के पुत्र का नाम धृतराष्ट्र और अम्बालिका के पुत्र का नाम पाण्डु था । इस तरह धृतराष्ट्र और पाण्डु परस्पर सौतेले भाई थे ।

(२) (क) पुरा च राजर्षिवरेण धीमता बहूनि वर्षाण्यमितेन तेजसा ।
प्रकृष्ट मेतत्कुरुणा महात्मना, ततः कुरुक्षेत्रमितीह पप्रथे ।२।

(ख) तरंतुका–रंतुकयोर्यदन्तरं रामह्रदानां च मचक्रुकस्य च ।
एतत् कुरुक्षेत्र समन्त पञ्चकं प्रजापते–रुत्तर वेदिरुच्यते २४।
महाशल्य प० अ० ५३।

(ग) देहली से उत्तर और अम्बाले से दक्षिण सरस्वती तथा दृषद्वती इन दो नदियों के बीच बीस कोस लम्बे और इतने ही चौड़े भूभाग का नाम कुरुक्षेत्र था ।

(३) गीतामृत पृष्ठ xxii पर देखें ।

[1]सञ्जय उवाच

**२-दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।**
**आचार्य-मुप-सङ्गम्य राजा वचन-मब्रवीत् ।२।**

संजय ने कहा —

राजा (दुर्योधन) ने ([2]वज्र) व्यूह बनाकर खड़ी पाण्डवों की सेना को देख, उसी समय द्रोणाचार्य के पास जाकर कहा ॥२॥

---

(१) संजय जाति का सूत था और इसके पिता का नाम गवलगण था। पाण्डव अपना हिस्सा लिये बिना ही युद्ध का ख्याल छोड़ दें, इस उद्देश्य से धृतराष्ट्र ने इसे उनके पास भेजा था। इसने पाण्डवों के पास जाकर उन्हें समझाया कि जीत हार से कोई लाभ नहीं। यदि कौरव तुम्हें हिस्सा न दें, तो तुम भीख मांगकर गुज़ारा करो, पर लड़ो नहीं। अर्जुन पर इसकी बातों का ऐसा प्रभाव पड़ा कि रणभूमि में लड़ने से इनकार करते हुए उसने प्रायः वही बातें कहीं हैं जो संजय ने उन्हें उस समय सिखलाई थीं। गीता अध्याय १ श्लो० ३७, ४४, ४६ तथा अध्याय २ श्लो० ४, ५, ६ से उद्यो प० अ० २५ श्लो० ७, ८, १० तथा अध्याय २७ श्लो० २, २५, ६५ की तुलना करें।

(१) व्यास जी की दी दिव्य दृष्टि से इसने धृतराष्ट्र को युद्ध के १० वें दिन गीता सुनाई थी। गावल्गणि विद्वान् संयुगादेत्य भारत। प्रत्यक्ष दर्शी सर्वस्य भूत भव्य भविष्यता। महा भी अ० १३।१।

(२) एषव्यूहामि ते व्यूहं राजसत्तम! दुर्जयम्।
अचलं नाम वज्राख्यं विहितं वज्रपाणिना (महा भी० अ० १९।७

**३-पश्यैतां *पाण्डु-पुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।**
**व्यूढां-द्रुपद पुत्रेण तव शिष्येण धीमता ।३।**

हे आचार्य ! अपने बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद पुत्र (धृष्टद्युम्न) द्वारा मोर्चा बन्दी करके खड़ी की हुई पाण्डवों की इस बड़ी सेना को देखिये ॥३॥

**४-अत्र शूरा [1]महेष्वासा भीमार्जुन-समा युधि ।**
**युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ।४।**

यहां ( पाण्डव सेना में ) बड़े २ धनुधारी भीम और अर्जुन के समान युद्ध में वीर, युयुधान ( [2]सात्यकि ) [3]विराट और महारथी [4]द्रुपद ॥४॥

---

(*) दुर्योधन को हर बात व्यङ्गपूर्ण होती है "पाण्डुपुत्राणामाचार्य" इस के कहने में भी एक व्यङ्ग है, कि आप पाण्डवों के हित चिन्तक होने से पाण्डु पुत्रों के ही आचार्य हैं, हमारे नहीं ।

(१) महेष्वासाः-(इषवः अस्यन्ते, एभिः इति, इष्वासाः (धनुर्धारिणां योधाः) तेषां महान्तः महेष्वासाः ।

(२) सात्यकि का दूसरा नाम युयुधान था ( महा उद्यो प० अ० ८। ९-८। सात्यकि अर्जुन का शिष्य यादव था । उद्यो अ० २२।२४। (३) विराट अभिमन्यु का ससुर था । (४) द्रुपद-द्रौपदी का पिता था ।

५-धृष्टकेतु-श्चेकितानः काशीराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्-कुन्ति-भोजश्च शैव्यश्च नर-पुंगवः ।५।

[1]धृष्टकेतु, [2]चेकितान, महावीर काशीराज ([3]सेनाविन्दुः) पुरुओं को जीतनेवाला [4]कुन्तिभोज, नरों में श्रेष्ठ शिवि पुत्र ( गोवासन ) [5]शैव्य ।।५।।

---

(१) धृष्टकेतु चेदिराज शिशुपाल का पुत्र, नकुल का साला था (उद्यो० अ० १७१।८) आदि अ० ६२।७६।

(२) चेकितान वृष्णी वंशीय था, अतः अर्जुन के ससुराल में से था, महा भीष्म अ० ८४।२०) ।

(३) काशीराज का नाम सेनाविन्दु था (उद्यो० अ० १७१।२०-२२) और यह भीमसेन का ससुर था ( महा आदि अ० ६२।७७।

(४) पुरवः जिता येन स पुरुजित् । कुन्ति भोज भीमसेन का मामा था
पुरुजित्कुन्ति भोजश्च महेष्वासो महा बलः ।
मातुलो भीमसेनस्य स च मेऽति-रथो मतः ।

महा उद्यो अ० १७२।३।

(५) शिवि के पुत्र शैव्य का नाम गोवान था, यह युधिष्ठिर का ससुर था (महा आदि ६२।७६।)

६-युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव [1]महारथाः ।६।

महापराक्रमी [2]युधामन्यु, महाबली उत्तमौजा, सुभद्रा पुत्र (अभिमन्यु) और द्रौपदी के ([3]पांचों) पुत्र [4]ये सभी महारथी (अकेले २ दस हजार योधा का मुकाबिला करने वाले) हैं।

---

[१] एको दश-सहस्राणि, योधयेद् यस्तु धन्विनाम् ।
शस्त्रास्त्र प्रवीणश्च स महारथ उच्यते । वाचस्पत्यम् ।

[२] युधामन्यु और उत्तमौजा ये दोनों पाञ्चाल देशीय वीर द्रौपदी के मैके वालों में से थे। [३] द्रौपदी के ये पांच पुत्र थे [१] प्रतिविन्ध्य [२] सुतसोम, [३] श्रुतकीर्ति, [४] शतानीक, और (५) श्रुतकर्मा। म०अ०९५।७५।

(४) इनमें सात्यकि, विराट, द्रुपद, धृष्टकेतु और चेकितान ये पाण्डवों की सात अक्षौहिणी सेना में से एक २ अक्षौहिणी के सेनापति थे धृष्टद्युम्न पाण्डव सेना के प्रधान सेनापति और अर्जुन उन से भी ऊपर थे ।

ततो द्रुपदमानाय्य विराटं शिनिपुङ्गवम् ।
धृष्टद्युम्नं च पाञ्चाल्यं धृष्टकेतुं च पार्थिव ।११।
शिखण्डिनं च पाञ्चाल्यं सहदेवं च मागधम् ।१२।
एतान् सप्त महाभागान् वीरान् युद्धाभिकांक्षिणः ।१२।
सेनाप्रणेतॄन् विधिवदभ्यषिञ्च युधिष्टिरः ।
सर्व-सेनापतिं चाऽत्र धृष्टद्युम्नं चकार ह ।१३।
सर्वेषामेव तेषां तु समस्तानां महात्मनाम् ।१४।
सेनापति-पतिं चक्रे गुडाकेशं धनंजयम् ।१५। म०उ०अ० १५७

**७-अस्माकं तु विशिष्टा ये तान् निबोध द्विजोत्तम ।**
**नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ।७।**

हे द्विजों में श्रेष्ठ ! हमारे पक्ष के जो विशेष व्यक्ति हैं, आप उन्हें भी जान लें, अपनी सेना के सेनापतियों के नाम आपके ध्यान में लाने के लिये आपसे कहता हूँ ।७।

**८-भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।**
**अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ।८।**

आप ([1]द्रोणाचार्य) [2]भीष्म [3]कर्ण रणविजयी [4]कृपाचार्य, [5]अश्वत्थामा (द्रोणाचार्य का पुत्र) विकर्ण (दुर्योधन का भाई) और वैसे ही सोमदत्त का पुत्र ([6]भूरिश्रवा) ।८।

---

१—संज्ञानं-संज्ञा-स्मृतिः—उपस्थितिः तदर्थम् ।

२—भीष्म कौरव सेना के प्रधान सेनापति थे (म० उ० अ० १९६।२६) ।

इस श्लोक में आये हुए विकर्ण के सिवाय ये और सब कौरवों की ११ अक्षौहिणी सेना में से एक २ अक्षौहिणी के सेनापति थे । यथा-

तत्र दुर्योधनो राजा शूरान् बुद्धिमतो नरान् ।
प्रसमीक्ष्य महाबाहु श्चक्रे सेनापतींस्तदा ।२०।
पृथगक्षौहिणीनां च प्रणेतॄन्नरसत्तमान् ।२१।
[4]कृपं, [1]द्रोणं, च [7]शल्यं च सैन्धवं च [8]जयद्रथम् ।
सुदक्षिणं च काम्बोजं कृतवर्माण-मेव च ।२२।
[5]द्रोणपुत्रं च [3]कर्णं च [6]भूरिश्रवसमेव च ।
शकुनिं सौबलं चैव वाह्लीकं च महाबलम् ।२३। म०उ०अ० १५५।

गीता पाठान्तर— भवान् भीष्मश्च कर्णो [4]कृप [7]शल्यो [8]जयद्रथः ।

९-अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नाना-शस्त्र-प्रहरणाः सर्वे युद्ध-विशारदाः ॥९॥

इसके सिवाय और भी बहुत से वीर मेरे लिये [1]प्राण देने को प्रस्तुत हैं (वे) अनेक प्रकार के शास्त्रों से सुसज्जित हैं और सबके सब युद्ध कला में बड़े निपुण हैं ॥९॥

१०-[2]अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ।१०।

भीष्म द्वारा रक्षित हमारी सेना अजय है। उनकी सेना की रक्षा [3]भीम कर रहा है। इसलिये वह तो सुगमता से जीती जा सकती है '१०॥

---

१—दुर्योधन लालची है, इसलिये बड़े अभिमान से बतला रहा है कि मेरे लिये बहुत से आदमी मरने को तैयार बैठे हैं; क्योंकि लोभी को दूसरों की परवाह नहीं हुआ करती। दुनियां बेशक मरे, पर उसका अपना स्वार्थ सिद्ध होना चाहिये। दूसरी ओर उधर अर्जुन है और वह धार्मिक विचार का है, वह १—२ वर्ष नहीं, पूरे १३ वर्ष बड़े २ कष्ट उठा कर भी यह सोच रहा है, कि हम कितना पाप करने लगे हैं, जो राज्य सुख के लोभ से अपनों को मारने के लिये तैयार हो गये हैं। यही सब जगह स्वार्थी और परमार्थी के विचारों में अन्तर हुआ करता है।

# दसवें श्लोक की टिप्पणी

२–(क) दुर्योधन का यह भाव प्रतीत होता है, कि भीष्म जैसे अनुभवी तथा दूरदर्शी सेनापति से संचालित होने से हमारी सेना (परितः आप्तुं, शक्यम्-इति, पर्याप्तं। न, पर्याप्तं अपार्यम्) किसी फेर, संकट या दवाव में नहीं लाई जा सकती, परन्तु उनकी सेना का रक्षक तो असमीक्षकारी, उतावले स्वभाव का भीम है, अतः वह सेना सुगमता से घेरी वा जीती जा सकती है। यही बात दुर्योधन ने आगे चल कर सभी सेनापतियों के सामने भी कही थी —

नाना–शस्त्र–प्रहरणाः सर्वे युद्ध–विशारदाः ।४।
एकैकशः समर्था हि यूयं सर्वे महारथाः ।
पाण्डु पुत्रान् रणे हन्तुं स-सैन्यान् किमु संहिताः ।५।
अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्त मिदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ।६। भी प० अ० ५१।

अर्थात् अनेक प्रकार के शस्त्र चलाने में निपुण तथा युद्ध में प्रवीण आप में से एकेला २ योद्धा, पाण्डवों और उनकी सभी सेना को मार सकता है, फिर इकट्ठे मिलकर उन पर जय पाने में तो सन्देह ही क्या है? क्योंकि हमारी सेना भीष्म से रक्षित होने के कारण अजय है और उनकी सेना की रक्षा भीम कर रहा है। इस लिये वह सुगमता से जीती जा सकती है। अतः इस श्लोक का उपर्युक्त अर्थ ही ठीक है।

# दसवें श्लोक की टिप्पणी

२ (ख) परन्तु कई टीकाकारों ने पर्याप्त शब्द का काफ़ी, अधिक, पूर्ण और अपर्याप्त का न काफ़ी कम-न्यून, अपूर्ण अर्थ किया है। उनका कहना है, कि दुर्योधन के मन में संदेह था, कि उसका प्रधान सेनापति भीष्म उसकी नहीं, उसके शत्रु की जीत चाहता है और दुर्योधन का यह सन्देह निर्मूल भी न था, क्योंकि महाभारत में लिखा है कि :-

अहन्यहनि पार्थानां वृद्धः कुरु-पितामहः ।
भारद्वाजात्मजश्चैव प्रातरुत्थाय संयतौ ।५।
जयोऽस्तु पाण्डु पुत्राणामित्यूचतुर-रिन्दमौं ।६। भी०प०अ० १७

लड़ाई के दिनों में भीष्म और द्रोण दोनों सेनापति सारी सेना के सामने प्रतिदिन प्रातः उठकर कहा करते थे, कि इस युद्ध में पाण्डवों की जीत हो। अतः जिनका प्रधान सेनापति ही युद्ध में अपनी हार चाहता हो। उनकी सेना चाहे कितनी ही बड़ी हो, फिर भी शत्रु को जीतने के लिये काफ़ी नहीं हो सकती। उधर पाण्डवों ने जिसे आज सेना रक्षक बनाया है, उस भीम को वर्षों से इसी बात की धुन समाई हुई है, कि हम कौरवों को किसी तरह जीत लें और वह वीर भी है, तथा परम साहसी भी।

अतः ऐसे उत्साही के नेतृत्व में लड़ने वाली छोटी सेना भी शत्रु पर विजय पाने के लिये काफी है। इसलिये पर्याप्त का अर्थ काफी और अपर्याप्त का न काफी ही ठीक है।

# दसवें श्लोक की टिप्पणी

२ (ग) एक यह भी कहते हैं, कि यद्यपि दुर्योधन के मन में खेद था और वही उसने द्रोण के सामने रोष से प्रकट भी करना चाहा, पर वह था, बड़ा चालाक। वह जानता था, कि जिस द्रोण को वह कहने लगा है, वह भी पाण्डवों की ही विजय चाहता है। मेरी कही बात को यदि उसने अपने पर किया व्यङ्ग समझा और वही बिगड़ गया, तो इस विषम समय में क्या होगा ? इसलिये उसने अपनी बात ऐसे शब्दों में कही जिसके दोनों ही अर्थ हो सकते थे। अतः पर्याप्त का अर्थ काफ़ी और जीतने में सुगम तथा अपर्याप्त का अर्थ न काफ़ी और अजय दोनों ही ठीक हैं।

३ धृष्टद्युम्न के प्रधान सेनापति होने पर भी पहले दिन अर्जुन के कहने से कि

स नः पुरो योत्स्यते वै भीमः प्रहरतां वरः ।८।
अग्रेऽग्रणी योत्स्यति नो युद्धोपाय विचक्षणः ।९। म०भी०प०अ० १९।

भीम ही सेना के आगे थे, जैसे महाभारत में आगे भी कहा है —

भीष्म प्रमुखतः कृत्वा प्रययौ सह सेनया।
तथैव पाण्डवः सर्वे भीमसेन पुरोगमा। भी० ४४।३।

इसलिये दुर्योधन ने "भीमाभिरक्षितम्", कहा है।

११-अयनेषु च सर्वेषु यथा-भागमवस्थिताः ।
[1]भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ।११।

व्यूह के सभी भागों में अपने २ स्थान पर खड़े होकर आप सभी भीष्म की ही रक्षा करें ।११।

---

१—भीष्म की सभी रक्षा करो, इसका कारण दुर्योधन ने महाभारत में यह बतलाया है—

१ नाऽतः कार्यतमं मन्ये रणे भीष्मस्य रक्षणात् ।
हन्याद्गुप्तोह्यसौ पार्थान् सोमकांश्च ससृंजान् ।१४।
अब्रवीच्च विशुद्धात्मा नाऽहं हन्यां शिखण्डिनम् ।
श्रूयते स्त्री ह्यसौ पूर्वं तस्माद्वर्ज्यो रणे मम ।१५।
तस्माद्भीष्मो रक्षितव्यो विशेषेणेति मे मतिः ।१६।
अरक्ष्यमाणं हि वृको हन्यात् सिंहं महाबलम् ।
मा सिंहं जम्बूकेनैव घातयामः शिखण्डिना ।१८।
यथा न हन्याद्गांगेयं दुःशासन तथा कुरु ।२०।भी०प०अ० १५

भीष्म कहते हैं, कि स्त्रियों पर प्रहार करना पाप है और शिखण्डी स्त्री से पुरुष हुआ है, इसलिये यदि यह मुझसे लड़ने आया, तो मैं उस पर शस्त्र नहीं उठाऊंगा । अर्जुन की सहायता पा शिखण्डी कहीं, भीष्म को मार न डाले, इसलिये युद्ध में भीष्म की रक्षा करना; मैं सबसे बड़ा काम समझता हूं, क्योंकि वह पाण्डव, सोमक और संसृज लोगों को अकेले ही मार सकते हैं ।

**१२-तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।**
**सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ।१२।**

कुरु वंशियों के बूढ़े प्रतापी पितामह ([1]भीष्म) ने उस (दुर्योधन) के मन में हर्ष उत्पन्न करने के लिये ऊंचे स्वर से सिंह के दाहड़ने के समान गर्ज कर शङ्ख बजाया ।१२।

**१३-ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानक गोमुखाः।**
**सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्द स्तुमुलोऽभवत् ।१३।**

इस (शंख बजने के) पश्चात (समस्त सेना में) शंख, नगारे, ढोल, मृदङ्ग, और नरसिंहे एक साथ बज उठे, उस शब्द से वहां शोर मच गया ।१३।

---

(१) भीष्म कौरव और पांण्डव दोनों के पितामह (बाबा) थे, क्योंकि राजा शन्तनु की गंगा नामक पत्नी से भीष्म और सत्यवती से विचित्र वीर्य का जन्म होने से भीष्म और विचित्र वीर्य आपस में सौतेले भाई थे और कौरव पाण्डव दोनों ही विचित्र वीर्य के पौत्र थे।

१४-ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
[1]माधवः [2]पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ।१४।

तव सफेद घाड़ों वाले बड़े रथ में बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन ने अलौकिक शंख जोर से बजाये ।१४।

१५-पाञ्चजन्यं [3]हृषीकेशो देवदत्तं [4]धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा [5]वृकोदरः ।१५।

हृषीकेश (श्री कृष्ण) ने [6]पाञ्चजन्य, धनंजय (अर्जुन) ने देवदत्त और भयंकर कार्य करने वाले वृकोदर (भीम) ने पौंड्र नामक बड़े भारी शंख को बजाया ।१५।

---

१ माधव—मा=लक्ष्मी, धव=पति, लक्ष्मी पति=विष्णु के अवतार कृष्ण ।
२ पाण्डव—पाण्डु के पुत्र अर्जुन ।
३ हृषीक=इन्द्रियां, ईश=स्वामी । इन्द्रियों को वशमें रखने वाले ।
४ धनंजय—धन को जीतने वाला ।
५ वृकस्य इव उदरं यस्य स वृकोदरः=भीमः ।
६ पाञ्चजन्य—ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, शूद्र और अन्त्यज इन पांचों का समूह हुआ, पञ्चजन । उस सभी जनता की आवाज को यहां पाञ्चजन्य शब्द से कहा गया है, क्योंकि जनता की आवाज हीं जनार्दन की आवाज हुआ करती है, इसलिये भगवान् के शंख का नाम पाञ्चजन्य ( Public Voice ) है। अथवा इस शंख से सम्बन्ध रखने वाली पंचजनदैत्य की कथा हरिवंश अध्याय ९ में देखें।

१६-[1]अनन्त-विजयं राजा कुन्ती-पुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोष-मणिपुष्पकौ ॥१६॥

कुन्ती पुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्त-विजय, नकुलने सुघोष और सहदेव ने मणिपुष्पक (नाम का शंख बजाया) ।१६।

१७-काश्यश्च परमेष्वासः शिखंडी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥

धनुषधारियों में श्रेष्ठ काशीराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट और ( शत्रु से कभी ) न जीते जाने वाले सात्यकी ।१७।

१८ द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ॥
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान् दध्मुः पृथक् पृथक् ॥१८॥

द्रुपद और द्रौपदी के (पांचों) पुत्रों, तथा बड़ी २ भुजाओं वाले वीर सुभद्रा के पुत्र अभिमन्यु (इन सबने भी) सब ओर से हे पृथ्वीनाथ (धृतराष्ट्र) ! अलग २ शंख बजाये ।१८।

१९ स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनु-नादयन् ॥१९॥

आकाश और पृथिवी को प्रतिध्वनित करते हुए उस ऊंचे शब्द ने धृतराष्ट्र (आपके दुर्योधनादि सभी पुत्रों) के हृदय (मानों) फाड़ डाल ।१९।

---

१ गीतामृत पृ० xxii देखें ।

२०-अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्र-[1]संपाते धनुरुद्यम्य [2]पाण्डवः २०।

फिर शस्त्र चलने आरम्भ होने के समय कौरवों को लड़ाई के लिये तैय्यार देख, [3]कपिध्वज पाण्डु पुत्र (अर्जुन) ने धनुष खींच कर ।२०।

---

१ शस्त्राणां संपातः (समन्तात पतनं) शस्त्र संपातः, तस्मिन् शस्त्र संपाते ।

२ गीतामृत पृ० xxii देखें ।

३ प्रत्येक सेनापति के झंडे पर कोई आकृति बनी हुई होती थी ।

(क) भीष्म के झंडे पर पांच तारे और ताड़ के वृक्ष का चिह्न था ।

(ख) द्रोणाचार्य के झंडे पर सुनहरी वेदी में कमण्डलु के साथ धनुष की आकृति बनी हुई थी ।

(ग) कृपाचार्य के झंडे पर बैल की शकल थी ।

(घ) अश्वत्थामा के झंडे पर शेर की पूंछ की आकृति थी ।

(ङ) दुर्योधन के झंडे पर नाग (सांप) की तस्वीर बनी थी ।

(च) जयद्रथ के झंडे पर सूअर की शकल बनी हुई थी ।

(छ) भगवान् कृष्ण के झंडे पर गरुड़ की आकृति थी ।

(ज) इसी प्रकार अर्जुन के झंडे पर हनुमान जी की मूर्ति बनी हुई थी ।

भीष्म—तासां प्रमुखो भीष्मः तालकेतु र्व्यरोचत (महा उद्यो १५०।५।

तालेन महता भीष्मः पंचारेण केतुना । (म० भीष्म प० १७।१८।

द्रोण—जाम्बूनदमयी वेदी कमण्डलु, विभूषिता ।२४।

केतुराचार्य मुख्यस्य द्रोणास्य धनुषा सह । म० भी० १७।२५।

**२१-हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।**
**सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ।२१।**

हे राजन्! श्री कृष्ण जी को यह वचन कहा, कि हे [1]अच्युत (कृष्ण) मेरे रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में खड़ा कीजिये ।२१।

**२२-यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् !**
**कैर्मया सह योद्धव्य मस्मिन् रण समुद्यमे ।२२।**

जिससे मैं इस रण उद्योग में युद्ध करने की इच्छा से खड़े हुए इन लोगों को देखूं, कि किन से मुझे लडना होगा ।२२।

---

कृप-स्यन्दने महर्देण केतुना वृभेण च ।
प्रकर्षन्नेव सेनाग्रं मागधस्य कृपो ययौ म० भी० १७-२७।
अश्वत्थामा-अश्वत्थामा ययौ यत्तः सिंहलांगूलकेतुना ।महा भी०अ०।१७।२१।
दुर्योधन-महान् दुर्योधनस्याऽऽसीन्नागो मणिमयो ध्वजः। म०भी० १७।२६
जयद्रथ-अनीकप्रमुखे तिष्ठन् वराहेण महायशाः ।
शुशुभे केतु मुख्येन राजतेन जयद्रथः। म० भी० प० अ० १७।२९ ।
श्रीकृष्ण-सुघोषः पतगेन्द्रेण ध्वजेन युयुजे रथः । म० उ० द्यो ८३।
आरुरोह रथं शौरिर्विमानमिव कामगम् । म० उद्यो० ८३।२०।
मंगलं भगवान्विष्णुः मंगलं गरुडध्वजः । स्कन्द पुराणे ।
२-(च्युतिः यस्य न भवति सः अच्युतः) ।
अच्युतः अ = न + च्युत = फिसला हुआ, सिद्धान्त के पक्का ।
गीतामृत पृ० xxii देखें ।

२३-योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

दुर्बुद्धि दुर्योधन की मनचाही बात पूरी करने की इच्छा से जो यहां लड़ाई में लड़ने आये हैं, उन्हें मैं देखूं तो सही ।२३।

संजय उवाच—

२४-एवमुक्तो हृषीकेशो 'गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयो र्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥

२५-भीष्म द्रोण प्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच ²पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥२५॥

संजय बोला—

हे भारत वंशीय (धृतराष्ट्र) ! इस प्रकर आलस्य रहित अर्जुन के कहने पर इन्द्रियों पर काबू रखने वाले (श्री कृष्ण) ने दोनों सेनाओं के ² मध्य में भीष्म, द्रोण तथा सभी राजाओं के सम्मुख उस उत्तम रथ को खडा करके कहा । हे पृथा के पुत्र (अर्जुन) इन इकट्ठे हुए कौरवों को देख ।२४-२५।

## २४ वें तथा २५ वें श्लोक की टिप्पणी

(१) गुडा-केश गुडाका- निद्रा, ईश =स्वामी। आलस्य रहित।

(२) पृथा कुन्ती, उसके पुत्र अर्जुन।

(३) पूर्वाह्णे तस्य रौद्रस्य युद्धमह्नो विशाम्पते।

प्रावर्तत महाघोरं राज्ञां देहावकर्तनम्। भी० अ० ।४२।१।

इस वचन के अनुसार यह युद्ध पूर्वाह्ण में ही आरम्भ हो गया था। और पश्चान्मुखाः कुरवो धार्तराष्ट्रः स्थिताः।

पार्थाः प्राङ् मुखाःयोत्स्यमानः। भीष्म प० अ० २०।५।

जैसे उक्त श्लोक में कहा है कुरुक्षेत्र के मैदान में पूर्व मुख करके पाण्डव सेना खड़ी थी और पश्चिम की तरफ मुख करके कौरव सेना। जब अर्जुन का रथ पश्चिम से पूर्व की ओर चला तो स्वाभाविक तौर पर श्री कृष्ण और अर्जुन दोनों का मुख पूर्व की ओर होगा, परन्तु दोनों सेनाओं के मध्य में जब अर्जुन ने युद्ध करने से इनकार कर दिया। उस समय उसे उपदेश देने के लिये भगवान् को अर्जुन की ओर मुख करना पड़ा होगा।

अतः आज से ५०८६ वर्ष पूर्व, मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी को प्रातः काल कुरुक्षेत्र के मैदान में पूर्वाभिमुख अर्जुन को पश्चिम की ओर मुख करके भगवान् ने गीता का उपदेश दिया। जिसमें धृतराष्ट्र का १, संजय के ४१, अर्जुन के ८४ और भगवान् के ५७४ श्लोक हैं। इस प्रकार गीता में सब मिलाकर ७०० श्लोक हैं और मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी का दिन विद्वानों ने गीता जयन्ती का दिन निश्चित किया है।

२६-तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान् भ्रातृन् पुत्रान्, पौत्रान् सखींस्तथा

२७-श्वसुरान्, सुहृदश्चैव, सेनयोरुभयोरपि।

अर्जुन ने वहां दोनों ही सेनाओं में पिता ([1]चचा) [2]बाबा [3]गुरु, [4]मामा, [5]भाई, [6]पुत्र, [7]पौत्र, [8]सखा, । [9]ससुर, और [10]सुहृदों को देखा २६-२७।

---

गीतामृत प्र० xxiiपर गीता १।२६ से ४५ तक के श्लोक देखें।

१ पिता (पिता के तुल्य चचा) भूरिश्रवादि। शान्तनु और बाह्लीक भाई २ थे। शान्तनु के पुत्र विचित्रवीर्य का पुत्र पाण्डु था और पाण्डु का अर्जुन। उधर बाह्लीक के पुत्र सोमदत्त का पुत्र—भूरिश्रवा था, अतः भूरिश्रवा अर्जुन का चचा हुआ।

२ बाबा-भीष्म। ३ आचार्य-द्रोणाचार्य, कृपाचार्य। ४ मामा-कुन्ती-भोज, और शल्य। ५ भाई-युधिष्ठिर-दुर्योधनादि। ६ पुत्र-अभिमन्यु और श्रुतकीर्ति तथा पुत्र तुल्य भतीजे लचमण आदि। ७ पौत्र-लचमण के पुत्र आदि; क्योंकि पौत्रों पर श्री नीलकण्ठ तथा श्रीधर जी लिखते हैं, "पौत्रान् लचमणादि पुत्रान्"। उधर महाभारत में युधिष्ठिर ने मरते हुए दुर्योधन को पौत्रों के विषय में ये वचन कहे हैं।

(क) इत्युक्त्वा भीमसेनं तु साश्रुकण्ठो युधिष्ठिरः।
उपसृत्याब्रवीद् दीनो दुर्योधनमरिन्दमम्।२१।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥

२८-कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

उन सब सम्बन्धियों को लड़ाई के लिये खड़े देख कुन्ती पुत्र अर्जुन का मन दया से वहुत ही भर गया और वह दुःखी होकर यों कहने लगा ।२७-२८।

---

घातयित्वा वयस्यांश्च भ्रातॄनथ पितॄंस्तथा ।
पुत्रान् पौत्रां स्तथा चान्यांस्ततोऽसि निधनं गतः ।२४।

शल्य० अ० ५६।

(ख) इसी प्रकार रात्र को अश्वत्थामा द्वारा मारे गये अपने पक्षवालों का शोक करते हुए युधिष्ठिर के वचन हैं —

स दृष्ट्वा निहतान् संख्ये पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा ।१। सौप्तिक प० अ० ११

(ग) और शान्ति पर्व में युधिष्ठिर फिर कहता है —

हताः पुत्राश्च पौत्राश्च भ्रातरः पितरस्तथा । शा० अ० ३३।१।

अतः यह तो निश्चित है, कि युद्ध में अर्जुन के सगे नहीं, तो सम्बन्ध में से कोई पौत्र लड़े तो थे, पर इनके नाम क्या थे, इसका पता नहीं चला ।

८ सखा—श्री कृष्ण, अश्वत्थामादि । ९ ससुर—द्रुपद आदि ।
१० सुहृद्—चेकितान आदि ।

अर्जुन उवाच :—

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण! युयुत्सुं समुपस्थितम् ।२८।

२६-सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।

वेपथुश्च शरीरे मे रोम-हर्षश्च जायते ॥२६॥

अर्जुननेकहा :—

हे कृष्ण ! युद्ध की इच्छा से सामने खड़े इन सम्बन्धियों को देख मेरे अङ्ग ढ़ीले पड गये हैं, मुंह सूख रहा है, मेरा शरीर कांप रहा है, और रोएं खडे हो रहे हैं ।२८-२६।

३०-गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक् चैव परिदह्यते ।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

हाथ से गांडीव धनुष फिसल रहा है, (शरीर की) चमड़ी जल रही है, अब मुझसे खड़ा नहीं रहा जा सकता और मेरा दिमाग चक्कर से खा रहा है ।३०।

३१-निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजन-माहवे ।३१।

हे कृष्ण ! मैं (सभी) लक्षण भी विपरीत ही देख रहा हूं । युद्ध में अपनों को मारने में मैं कोई भलाई नहीं देखता ।३१।

३२-न कांक्षे विजयं कृष्ण ! न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द ! किं भोगैर्जीवितेन वा ।३२।

हे कृष्ण ! मैं जीत नहीं चाहता, न राज्य और सुख ही चाहता हूं। हे [1]गोविन्द ! हमें राज्य से क्या, (उसके) भोगों से क्या और जीने से भी क्या (लाभ) है ? ।३२।

३३-येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

जिनके लिये हम राज्य, भोग और सुखों को चाहते थे। वही ये प्राणों और (सभी प्रकार के) धनों की (आशा) छोड़कर युद्ध में खड़े हैं ।३३।

३४-[2]आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वसुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।३४

गुरु, पिता (चचा),पुत्र, और वैसे ही दादा, मामे, ससुर,पोते, साले और सम्बन्धी ।३४।

---

(१) गोविन्द-गो-वाणी + विन्द = प्राप्त। वाणी पर काबू पाये हुए। वा गौ जाति के पालक ।

(२) अर्जुन की इस आशंका भीष्म के शब्दों में यह समाधान है।
पितॄन्पितामहान् भ्रातॄन् गुरून्संबन्धि-बान्धवान् ।
मिथ्या प्रवृत्तान् यः संख्ये निहन्याद्धर्म एव सः ।१५।
समय-त्यागिनो लुब्धान् गुरूनपि च केशव ।
निहन्ति समरे पापान् क्षत्रियो यः स धर्मवित् ।१६।म०शा०अ० २२।

**३५ एतान् न हन्तु मिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।**
**अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥**

हे [1]मधुसून ! इस पृथ्वी के लिये तो क्या, मुझे तीनों लोकों का राज्य भी क्यों न मिलता हो, तो भी मैं इन्हें मारना नहीं चाहता, चाहे ये मुझ पर प्रहार ही कर रहे हों ।३५।

**३६ निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।**
**पापमेवा-श्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥**

हे [2]जनार्दन ! दुर्योधनादियों को मारकर हमें क्या खुशी होगी (अथवा हमारी कौन सी भलाई होगी) इन [3]आततायिओं को मारकर भी हमें [4]पाप ही लगेगा ।३६।

---

(१) मधु नामक दैत्य को मारने वाले ।

(२) जनार्दन—जनैः पुरुषार्थम् अभ्युदय, निःश्रेयस लक्षणं याच्यत इति जनार्दनः—अथवा जनं-जननं तत् कारणं अज्ञानं च स्वसाक्षात् कारेण अर्दयति हिनस्ति इति जनार्दनः ।

अर्थात् जिससे लोग उन्नति और मोक्ष के लिये याचना करते हैं उसका नाम जनार्दन है अथवा जो जन्म के कारण अज्ञान को अपने साक्षात्कार से नाश कर देता है, वह भगवान् जनार्दन कहलता है ।

(३) आततायी—अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणि धनापहः ।
क्षेत्र-दारहरश्चैव षडेते आततायिनः । वसिष्ठ स्मृतिः ।३।

# ३६ वें श्लोक की टिप्पणी

(३) दुर्योधन और उसके सहायकों ने वारणावत में पाण्डवों को [1]जला देने का उद्योग किया था। २ भीम को विष दिया था, ३ शस्त्र हाथ में लेकर वे पाण्डवों को मारने के लिये तो अब भी सामने खड़े ही थे, ४ उन्होंने पाण्डवों का सभी धन ले लिया था। ५ महीपति युधिष्ठिर की धरती छीन ली थी। ६ द्रौपदी को बलपूर्वक पकड़ मंगवाना था। इसप्रकार दुर्योधन तथा उसके सभी सहायक आततायी थे।

॥३६॥

(४) युद्ध के समय धर्म भीरू अर्जुन के विचारों का क्रम और उन विचारों के आधारभूत धर्मशास्त्र के वचन सम्भवतः निम्नलिखित थे।

(क) पहिला विचार-साधारण रूप से हिंसा पाप है, परन्तु युद्ध में तो वह पाप नहीं हुआ करती —

न दोषो हिंसाया माहवे। गौतम स्मृति अ १०।

फिर आततायियों को मारना तो किसी अवस्था में भी पाप होता ही नहीं।

आततायिनं हत्वा नात्र प्राणच्छेत्तुः किञ्चिद् किल्विषमाहुः। वसिष्ठ।३।

(ख) फिर उसे दूसरा विचार-आया कि, गुरु और अपने बड़े आततायी भी हो जायें तो भी उन्हें न मारना चाहिये —

आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम्।

न हिंस्यात् ब्राह्मणान् गांश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः। मनुः ४।१६२।

# ३६ वें श्लोक की टिप्पणी

अतः भीष्मादि बड़ों तथा द्रोणादि गुरुओं को मारना पाप ही है।

(ग) फिर उसे तीसरा विचार यह आया--नहीं २; धर्मशास्त्र में लिखा है, कि आततायी चाहे अपना बड़ा हो, या गुरु, उसे भी मारने से कोई पाप नहीं होता।

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतं ।

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् । मनुः ८।३५०।

(घ) फिर चौथा विचार आया—कि स्मृतियों में दो प्रकार के वचन हुआ करते हैं, एक प्रकार के वचनों की संज्ञा धर्मशास्त्र होती है और दूसरी तरह के वचनों को अर्थ शास्त्र कहते हैं।

"आचार्यं च प्रवक्तारं" यह मनुस्मृति का श्लोक धर्मशास्त्र संज्ञक वचन है और "गुरुं वा बालवृद्धौ वा" यह मनुस्मृति में होने पर भी अर्थ शास्त्र नामक वचन है। और

अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्म शास्त्रमिति स्थितिः। याज्ञवल्क्य ।१।३०।

के अनुसार धर्मशास्त्र में आये अर्थशास्त्र वचनों से धर्मशास्त्र संज्ञक वचन ही बलवान् हुआ करते हैं। अतः आचार्यादि आततायियों को मारने से भी हमें पाप ही लगेगा। यही मन में रखकर अर्जुन ने कहा—

पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ।३६।

**३७ तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं [1]धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।**
**स्वजनं हि कथं हत्वा [2]सुखिनः स्याम [3]माधव ॥३७**

इसलिये हमें अपने सम्बन्धि धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारना उचित नहीं, हे कृष्ण ! हम अपने आदमियों को मार कर सुखी कैसे होंगे ? ।३७।

---

(१) अर्जुन की इस आशंका का व्यास जी ने में यह समाधान किया है—

इदं तु श्रूयते पार्थ युद्धे देवासुरे पुरा ।
असुरा भ्रातरो ज्येष्ठा देवाश्चापि यवीयसः ।२५।

जघ्नुर्दैत्यांस्तथा देवास्त्रिदिवं चाभिलेभिरे ।२७।
धर्मच्युच्छित्तिमिच्छन्तो ये ऽधर्मस्य प्रवर्तकाः ।
हन्तव्यास्ते दुरात्मानो देवै र्दैत्या इवोल्बणाः ।३०।
अधर्मरूपो धर्मोहि कश्चिदस्ति नराधिप ।

धर्मश्चा धर्मरूपोऽस्ति तच्चज्ञेयं विपश्चिता ।३३। म०शा०अ० ३३

(२) संजय के वचन से तुलना करें ।

एतान् हत्वा कीदृशं तत्सुखं स्यात् । म० उ० २७।२५।

(३) मौनाद्ध्यानाच्च योगाच्च विद्धि भारत माधवम् ।महा उ० ७०।४।

३८-यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहत चेतसः ।
[1]कुलक्षयकृतं दोषं [2]मित्रद्रोहे च पातकम् ।३८

चाहे ये लोभ से बुद्धि भ्रष्ट हो जाने के कारण [3]कुलक्षय करने के दोष और [4]मित्रों से द्रोह करने के पाप (पर ध्यान नहीं देते ।३८।

३९-कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
[1]कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ।३९॥

किन्तु हेकृष्ण ! कुल [1] नाश करने से दोष होता है, यह अच्छी तरह जानते हुए भी, हमें इस पाप से बचने की क्यों न समझ आनी चाहिये ? ।३ ।

४०-कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ।४०।

कुल के नाश से परंपरा से प्राप्त कुल धर्मों का नाश होता है अर्थात् पुराने कुलाचार मिट जाते हैं और धर्म के नष्ट होने पर उस कुल पर अधर्म छा जाता है ।

---

(१) गोत्रहा पुरुषः कुष्ठी निर्वंशश्चोप जायते ।शातातप २।३।

(२) मित्रद्रोही कृतघ्नश्च यश्च विश्वास घातकः ।
त्रयस्ते नरकं यान्ति यावच्चन्द्र दिवाकरौ । व्यासः ।

(३) एकं हत्वा यदि कुले शिष्टानां स्यादनामयम् ।
कुलं हत्वा च राष्ट्रं च न तद् वृत्तो पघातकम् ।शा० अ० ३३।

(४) सप्ताङ्गस्य च राज्यस्य विपरीतं य आचरेत् ॥
गुरुर्वा यदि वा मित्रं प्रति हन्तव्य एव सः ।१।म० शा० अ० २७।

**४१-अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।**
**स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय ! जायते वर्ण-संकरः ।४१।**

हे कृष्ण ! कुल में अधर्म के बढ़ जाने से कुल की स्त्रियों में बुराई आ जाती हैं। हे [1]वार्ष्णेय ! स्त्रियों के खराब होने पर [2]वर्ण-संकर उत्पन्न होता है ।४१।

**४२-संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।**
**[3]पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदक क्रियाः ।४२।**

और संकर, कुल के नाश करने वालों तथा कुल को नरक में ले जाने के लिये ही होता है, उनके पितर पिण्ड-दान ( श्राद्ध ) तथा उदक (तर्पण) का लोप हो जाने से अधोगति को प्राप्त होते हैं।

---

१—वार्ष्णेय—वृष्णिकुल में उत्पन्न=कृष्ण।

(२) जन-क्षय वा वर्ण संकरता जिससे अर्जुन डरता था भगवान् को भी वह अभिमत न थे। न वह ऐसा कोई काम न करना चाहते थे, जिससे वैसा हो, उन्होंने यह बात स्पष्ट कही है—

संकरस्य च कर्तास्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः गी० ३।२४।

परन्तु दोनों के दृष्टि कोण भिन्न २ थे।

(३) अर्जुन की इस आशंका का महाभारत में यह समाधान है—

आहवे तु हतं शूरं न शोचते कथंचन ।४४।
अशोच्यो हि हतः शूरः स्वर्ग लोके महीयते।
न ह्यन्नं नोदकं तस्य न स्नानं नाप्य शौचकम् ।४४।म०शा० ६८।

४३-दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्ण-संकर-कारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ।४३॥

इन वर्णसंकर करने वाले दोषों के कारण कुल का नाश करने वालों के पुराने जाति धर्म तथा कुल धर्म लुप्त हो जाते हैं ।४३।

४४-उत्सन्नकुल-धर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
[1]नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ।४४।

हे जनार्दन ! जिन मनुष्यों के कुल धर्म नष्ट हो जाते हैं, हमने सुना है, कि उनका निश्चय ही नरक में वास होता है ।४४

४५-अहो बत महत् पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद् राज्य सुखलोभेन, हन्तुं स्वजनमुद्यताः ।४५।

अरे ! कैसे शोक की बात है, कि हम बड़ा भारी पाप करने लगे हैं, जो राज्य सुख के लोभ से अपने सम्बन्धियों को ही मारने के लिये तैयार हो गये हैं ।४५।

---

१ संजय के वचनसे तुलना करें—"पापोदयोऽभाव संस्थः" ।७।उ०अ० २२।८।

४६-यदि मामप्रतीकार मशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे [1]हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

यदि ये दुर्योधन आदि हाथ में शस्त्र लेकर मुझ निहत्थे को रण-भूमि में मार डालें और मैं अपना बचाव न करूं, तब मेरा बहुत बड़ा कल्याण हो ।४६।

संजय उवाच—

४७-एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोक-संविग्न मानसः ।४७।

संजय बोला—

इस प्रकार रणभूमि में शोक से व्याकुल अर्जुन धनुषबाण फैंक कर रथ में अपने बैठने की जगह पर बैठ [2]गया । ४७ ।

इति श्री मद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु, ब्रह्मविद्यायां योग-शास्त्रे श्री कृष्णार्जुन संवादेऽर्जुन विषाद योगो नाम [3]प्रथमोऽध्यायः ।

---

१ संजय के इस वचन से तुलना करें—
उपकृष्टं जीवितं संत्यजेयुः । महा० उ० २५।८।

२ गीतामृत पृ० xxiii पर देखें ।

३ इस अध्याय में धृतराष्ट्र ने १, संजय ने २५, और अर्जुन ने २१ श्लोक कहे हैं ।

## द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

संजय उवाच—

४८ तं तथा कृपया-विष्टमश्रु पूर्णा-कुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ।१।

संजय ने कहा—

करुणा के कारण आंसूओं से भरी हुई आंखें होने से देखने में असमर्थ और दुःखी हो रहे, उस (अर्जुन) को मधुसूदन (कृष्ण) ने यह [1]कहा ।१।

श्रीभगवानुवाच —

४६-[1]कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुस्थितम् ।
अनार्यजुष्ट-[2]मस्वर्ग्य-मकीर्तिकर-मर्जुन ॥२

श्रीभगवान् बोले—

जिसे अनार्य (बुरे लोग) करते हैं, (अर्थात भले लोग नहीं करते) जो स्वर्ग की वाधक (स्वर्ग से विमुख करने वाली) और अयश को देने वाली है, ऐसी, मोह की भावना (उलटी सूझ) इस कठिन समय में अर्जुन ! तुझे कहां से सूझ पड़ी है ? ।२।

---

१ गीतामृत पृ० xxiii देखें ।

२ अस्वर्ग्य का अर्थ है, ऐसा काम जिससे स्वर्ग न मिले, भाव यह कि किसी को मारने से भले ही नरक मिलता हो पर न मारने से स्वर्ग छोड़े ही मिलता है, क्योंकि किसी को न मारना, तो मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है ।

**५०-क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ! नैतत्त्वय्युपपद्यते।**
**क्षुद्रं हृदय-दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप।३।**

हे [1]पृथा के पुत्र! नपुंसक मत बन, तेरे लिये यह योग्य नहीं, हे शत्रुओं को तपानेवाले! तुच्छ हृदय की इस दुर्बलता को छोड़कर [2]उठ खड़ा हो।३।

---

१ पृथा—कुन्ती (का दूसरा नाम था यह श्रीकृष्ण की भूआ थीं उसके) पुत्र।

२ भगवान् ने अर्जुन को गुरु और सम्बन्धियों से लड़ने को क्यों कहा? इसका उत्तर यह है कि:--अर्जुन केवल अपने सुख-दुःख की सोच रहा था परन्तु भगवान् के सामने देशभर के सुख दुःख का प्रश्न था। पार्थ युद्ध में आकर भी एक साधारण अवस्था के नियमों के अनुसार विचार कर रहा था और श्री कृष्ण युद्ध में लड़ने वाले सैनिक का अपने देश तथा सरकार के प्रति क्या कर्तव्य है, इसे विचार रहे थे। सच ही क्यों? अब भी यदि कोई सेनाधिकारी पहले तो सेना की मोर्चा बन्दी करा, उसे शत्रु सेना के सामने युद्ध के लिये खड़ा करदे और फिर अपनी सरकार की हानि, देश की दुर्दशा, और स्वपक्ष के सम्मान की कुछ भी परवाह नकरके यह कहने लगे, कि मैंने देखा है, शत्रु पक्ष में मेरे सम्बन्धी हैं, उन्हें मारने से मुझे दुःख होगा, उनके मरने से कुल नाश हो जायगा, हमारे कुलके रिवाज मिट जायेंगे, स्त्रियां बिगड़ जायेंगी, वर्णसंकर होंगे, पितरों को पिण्ड पानी देने वाला न रहेगा। अपने कुल नाश से मुझे पाप लगेगा। इसलिये इस लड़ाई को मैं बन्द करता हूं। इस प्रकार के विचारों वाले सेनानायक को भला कोई अच्छा समझेगा? या उसका Court Martial किया जायेगा।

अर्जुन उवाच—
५१-कथं [1]भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

अर्जुन बोला—
हे मधु सूदन (कृष्ण)! मैं भीष्म और द्रोण के साथ युद्ध में बाणों से कैसे लड़ूं? हे शत्रु नाशक (कृष्ण) वे तो पूजा के योग्य हैं।४।

५२-गुरूनहत्वा हि महानुभावान्,
[2]श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव,
भुञ्जीय भोगान्-रुधिर-प्रदिग्धान् ॥५॥

[3]धन के लोभी गुरुओं को मारकर उनके रुधिर में सने हुए भोग ही यहां भोगने होंगे (इससे तो) इन महानुभाव गुरुओं को न मार इस संसार में भीख मांगकर खालेना ही अधिक अच्छा है।५।

१ संजय के वचन से तुलना करें— यत्र भीष्मः शान्तनवो हतःस्यात् यत्र द्रोणः सह पुत्रो हत स्यात्। उद्यो० २७।२४।

२ संजय के वचन से तुलना करे—
न चेद्भागं कुरवोऽन्यत्र युद्धात् प्रयच्छेरंस्तुभ्यमजातशत्रोः।
भैक्षाचर्यामंधक वृष्णि राज्ये श्रेयो मन्ये न तु युद्धेन राज्यम्। उद्यो० ।२७।२।

३ अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः। आदि पर्व अध्याय ४३ में अपने-

५.३-न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो,

यद्वा [4]जयेम यदि वा नो जयेयुः ।

यानेव हत्वा न जिजीविषाम-

स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

हम नहीं जानते, कि हम जीतें, या वे हमें जीतें (इसमें) हमारे लिये कौन सी बात अधिक अच्छी होगी? (क्योंकि) जिन्हें मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे धृतराष्ट्र के पुत्र सामने (युद्ध के लिये) खड़े हैं ।६।

---

विषय में भीष्म, द्रोण, कृप और शल्य ने कहा है। अतः यही अर्थ ठीक प्रतीत होता है अथवा गुरुओं को मारकर उनके रुधिर में सने हुए अर्थ और काम रूप भोग ही भोगने होंगे। यह अर्थ भी हो सकता है।

४ संजय के वचन से तुलना करें —

सोऽहं जये चैव पराजये निःश्रेयसं नाधिगच्छामि किंचित् ।

उ० २४।१२।

५४-[1]कार्पण्य-दोषो-पहत-स्वभावः,

पृच्छामि त्वां धर्म-संमूढचेताः ॥

[2]यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे,

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

करुणाजन्य दीनता के दोष से मेरा (वीर) स्वभाव नष्ट हो गया है, धर्म के विषय में मोहित हुए चित्त वाला (अर्थात् दो धर्मों में टक्कर के कारण संशय में पड़कर) मैं आपसे पूछता हूं, मेरे लिये (प्रेय नहीं) जो निश्चय ही श्रेय हो, वह कहें, मैं आपका शिष्य हूं, शरण में आया हूं, मुझे शिक्षा दीजिये ।७।

---

१ गीतामृत पृ० XXV देखें ।

२ श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते, प्रेयोमन्दो योगक्षेमाद्वृणीते
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्यः प्रेयोवृणीते ।
क० उ० १।१।२।

५५ नहि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्,
यच्छोक-मुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमा-वसपत्नमृद्धं,
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ।८।

धनधान्य से पूर्ण तथा शत्रुओं से शून्य पृथ्वी पर [1]राज्य और देवों का स्वामित्व (स्वर्ग का राज्य) प्राप्त करके भी जो शोक मेरी इन्द्रियों को सुखा रहा है, उसे दूर करने का उपाय मैं नहीं देखता ।

संजय उवाच—

५६ एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ! ।
न योत्स्य इति गोविन्द मुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ।९।

संजय ने कहा—

हे शत्रुओं को तापदेने वाले (धृतराष्ट्र) निद्रा को जीतने वाले अर्जुन ने इन्द्रियों के स्वामी (श्रीकृष्ण) को इस प्रकार कहा, कि हे गोविन्द ! मैं न लडूंगा, यह कर वह चुप हो गया ।९।

५७ तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ! ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ।१०।

हे धृतराष्ट्र—दुःखी हो रहे अर्जुन को दोनों सेनाओं के मध्य में कुछ मुस्कराते हुए जितेन्द्रिय कृष्ण ने यों कहा ।१०।

---

१ इसकी संजय के इस श्लोक से तुलना करें—
लब्ध्वापीमां पृथ्वीं सागरान्तां । उ० २७।६२।

श्रीभगवानुवाच—

५८ [1]अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादाँश्च भाषसे।
[2]गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति [3]पण्डिताः॥११॥

श्री कृष्ण बोले—

जो शोक करने के योग्य नहीं, उनका तू शोक कर रहा है, और बुद्धिमानों की सी बातें बनाता है, परन्तु जो बुद्धिमान् हैं, वे [4]मरे और जीवितों के विषय में सोच नहीं करते।११।

---

१ "पिण्डोदक क्रिया के लुप्त होने से पितर नरक को जाते हैं" (गीता १।४२) अर्जुन के ऐसा कहने से यह स्पष्ट है, कि वह जानता है, कि मनुष्य के मरने पर भी आत्मा नहीं मरती, क्योंकि वह लोकान्तर को जाती है। इस दशा में शोक उनका करना चाहिये, जो नरक जा रहे हों, किन्तु युद्ध में काम आने वालों के विषय में तो लिखा है—

द्वा विमौ पुरुषौ लोके सूर्य मण्डल भेदिनौ।
परिव्राट्-योग-युक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः।पराशर स्मृति ३।२२।

अतः वे शोक के योग्य नहीं, परन्तु अर्जुन उन्हीं का शोक करता है, इस लिये कहा "अशोच्यानन्वशोचः"।

२ गतासून्=गतप्राणान् मृतान्, अगतासून् अगतप्राणान् जीवितान् इति शं०।

गतासून् देहान्, अगतासून् आत्मनश्च प्रति तयोः। इति रा०।

३ गीतामृत पृ० XXV देखें।

४ युद्ध के मैदान में जाकर तो बुद्धिमान् मरने-जीने की परवाह नहीं करते अर्थात् वे प्राणों का मोह छोड़ निर्भय होकर लड़ा करते हैं।

**५९ न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे [1]जनाधिपाः।**
**न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।१२।**

मैं [2]कभी न था, या तू नहीं था, या ये राजा न थे, ऐसा नहीं है और नहीं ऐसा है, कि इससे आगे हम सब कभी न होंगे ।१२।

**६० देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।**
**तथा देहान्तर-प्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ।१३।**

जैसे जीवात्मा की इस (शरीर) में बाल, युवा और वृद्धावस्था होती हैं। वैसे ही दूसरे शरीर की प्राप्ति भी है, धीर पुरुष को उस विषय में मोह प्राप्त नहीं होता ।१३।

**६१ मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।**
**आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ! ।१४।**

हे कुन्तीपुत्र (अर्जुन) इन्द्रियों के (सृष्टि के पदार्थों से) स्पर्श (सम्बन्ध) ही सर्दी, गर्मी, सुख और दुःख देने वाले हैं, वे उत्पत्ति और [3]विनाश वाले अनित्य हैं, हे अर्जुन ! तू उनको सहन कर ।१४।

---

१ देह भेदानुवृत्त्या बहुवचनं न आत्म भेदाभिप्रायेण । इति श०
एवं भगवतः सर्वेश्वराद् आत्मनां परस्परं भेदः पारमार्थिक इति रा०

२ गीतामृत पृ० xxvi देखें ।

३ मुझे व्यक्तिगत तौर पर तो इन सम्बन्धियों के मरने से दुःख होगा ही और वह पता नहीं आयु भर ही न मिटे । पार्थ की इस आशंका पर भगवान् ने

६२ यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ! ।
सम-दुःख-सुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।१५।

हे पुरुष श्रेष्ठ ! सुखदुःख को समान समझवाले जिस धीर (बुद्धिमान) पुरुष को ये व्यथित नहीं करते, वह तो अमर होने में समर्थ हो जाता है ।१५।

६३ नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ।१६।

[1]असत (जो नहीं) का भाव (होना) नहीं हो सकता और सत (जो है) का अभाव (न होना) नहीं हो सकता, तत्त्व ज्ञानियों ने इन दोनों का निश्चय किया है ।१६।

---

दो बातें कही हैं, पहिली यह कि देश के सुख के लिये अपने पर दुःख सहन करना ही पड़ता है, पर यह सुखदुःख जैसे तुम डरते हो, कि शायद सदा ही रहें, ऐसी बात नहीं, मनुष्य भूलने वाला है और वह बहुत जल्दी भूल जाता है तथा सुख दुःख का वेग भी सदा एक सा नहीं रहता । वह भी आने जाने वाला ही है । दूसरी यह कि सुखदुःख तो अनित्य है, उनके विचार को छोड़ जो नित्य रहने वाली वस्तु है, उनकी उन्नति का विचार कर ।

१ (क) यथा घटादि संस्थानं चक्षुषा निरूप्यमाणं मृद्व्यतिरेकेण अनुपलब्धेः असत् । तथा सर्वो विकारः कारण व्यतिरेकेण अनुपलब्धेः असन् । यद्विषया बुद्धिर्न व्यभिचरति तत् सत् । यद्विषयाबुद्धिः व्यभिचरति तत् असत् । श्री शं० ।

१(ख) असतो देहस्य सद् भावो न विद्यते । सतः च आत्मनो न असद् भावः । विनाशस्वभावो हि असत्त्वम् । अविनाशस्वभावश्च सत्त्वम् । श्रीरामा० ।

६४ अविनाशि तु तद्विद्धि [1]येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ।१७

जिस (आत्मतत्त्व) से यह समस्त ( जगत् ) व्याप्त हो रहा है, उस (आत्मा) को तू नाश रहित जान। उस सदा एक से रहने वाले का कोई विनाश नहीं कर सकता । १७।

६५ अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत! ।१८।

प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जो नहीं जाना जा सकता, (या जो मापा तोला नहीं जा सकता) उस सदा रहने वाले, शरीर के स्वामी, कभी नाश न होने वाले (आत्मा) के ये शरीर नाशवान् कहे हैं, इसलिये (कि आत्मा नहीं मरता) हे अर्जुन तू युद्ध कर ।१८।

६६ य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं [2]हन्ति न हन्यते ।१९।

जो इस (आत्मा) को मारने वाला जानता है, या जो इसे मारा गया मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते (क्योंकि) यह (आत्मा) न मारता है और न मारा जाता है ।१९।

(१) येन आत्मतत्त्वेन इति रा०।
येन सर्वं इदं जगत ततं व्याप्तं सदा स्वेन ब्रह्मणा इति शं० ।

(२) अक्रिय होने से वह किसी को मारता नहीं और अविनाशी होने से मारता नहीं ।

६७ [illegible] न जायते म्रियते वा कदाचिन्-

नायं भूत्वाऽभविता वा न भूयः ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो,

न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।२०।

यह (आत्मा) जन्मता नहीं, न कभी मरता ही है, यह होकर फिर कभी न होगा, यह भी नहीं, अजन्मा, अविनाशी, सदा एक रस रहने वाला और प्राचीन, यह ( आत्मा ) शरीर के मारेजाने पर भी नहीं मरता ।२०।

६८ [illegible]दाविनाशिनं नित्यं य एन-मजमव्ययम् ।

कथं स पुरुषः पार्थ ! कं घातयति हन्ति कम् ।२१।

हे पार्थ ! जो इस (आत्मा) को नाश रहित, सदा रहने वाला, अजमा और अविकारी जानता है, वह कैसे, किसको मरवाता और किसको मारता है ? ।२१।

६९ [illegible]सांसि जीर्णानि यथा विहाय,

नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।

तथा [1]शरीराणि विहाय जीर्णा,
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

पुरुष पुराने वस्त्रों को उतार कर जैसे और दूसरे नये (वस्त्रों को) पहनलेता है, वैसे ही आत्मा पुराने शरीरों को छोड़ कर और नये शरीरों को धारण करलेता है ।२२।

७८ नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

न इस (आत्मा) को शस्त्र काटते हैं, न इसे अग्नि जलाती है, न पानी भिगोते हैं और न ही वायु सुखाती है ।२३।

७९ अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

यह (आत्मा) काटा नहीं जा सकता, यह जलाया नहीं जा सकता, भिगोया नहीं जा सकता और न सुखाया ही जा सकता है, यह सदा रहने वाला, सर्वव्यापक, स्थिर, निश्चल और सदा से है ।२४।

८० अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

इसे इन्द्रियां जान नहीं सकतीं, मन सोच नहीं सकता, इसमें कोई विकार नहीं होता (आत्मा के विषय में) ऐसा कहा गया है, इसलिये इसे ऐसा जानकर तुम्हे शोक न करना चाहिये । २५।

---

१ यथा हि पुरुषः शालां पुनः संप्रविशेन्नवाम् ।
एवं जीवः शरीराणि तानि तानि प्रपद्यते ।२७।
देहान् पुराणानुत्सृज्य नवान् सम्प्रति पद्यते ।
एवं मृत्युमुखं प्राहुर्जना ये तत्त्व दर्शिनः ।२८। म० शा० अ० १५।

७३ अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

यदि तू इस (आत्मा) को सदा जन्मने और मरने वाला मानता है; तो भी महाबहु (अर्जुन) तुझे इस प्रकार शोक न करना चाहिये।२६।

७४ जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
[1]तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितु मर्हसि ॥२७॥

(क्योंकि) जो जन्मता है, उसकी मृत्यु अवश्य होती है और जो मरा है, उसका जन्म भी अवश्य ही हुआ करता है, इसलिये इस न रुकने वाली (अमिट) बात के लिये तुझे शोक न करना चाहिये । २७ ।

७५ अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्त-मध्यानि भारत! ।
अव्यक्त-निधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

भरतवंशीय (अर्जुन!) (पंच महाभूतों के संघात ये) शरीर जन्म से पहले अदृश्य होते हैं, जन्म होने पर बीच में दीखने लगते हैं और मरने पर फिर नजर नहीं आते (यह इन का स्वभाव ही है) इस विषय में शोक (क्रोध पूर्वक विलाप) काहे का? ।२८।

---

१ गीतामृत पृ० ५५वां देखें।

७६ आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्य-वद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्य-वच्चैनमन्यः शृणोति,
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।२६।

कोई इस आत्मा को आश्चर्य की तरह देखता है, दूसरा इस आत्मा को आश्चर्य की तरह कहता है, और कोई इसका वर्णन आश्चर्य से सुनता है और कोई सुन कर भी इस (आत्मा) को नहीं जान (पा) ता ।२६।

७७ देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत! ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।३०।

हे भारतवंशीय (अर्जुन) यह आत्मा सबके शरीर में सदा विनाश रहित है, इसलिये सभी प्राणियों (अर्थात् किसी) के लिये तुम्हे शोक नहीं करना चाहिये ।३०।

७८ स्वधर्ममपि[1] चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ।३१।

अपने (वर्ण) धर्म को देखकर भी तुम्हे युद्ध से नहीं हटना चाहिये, क्योंकि क्षत्रिय का धर्म युद्ध से बढकर और कोई कल्याण कर कर्तव्य नहीं है ।३१।

---

१ गीतातत्त्व पृ० स्वधर्म ... से ... तक का ... देखें ।

७९ यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वार-मपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।३२।

हे पार्थ ! अपने आप आये हुए, स्वर्ग के खुले द्वार (रूप) ऐसे युद्ध को तो भाग्यशाली (आनन्द से) क्षत्रिय ही प्राप्त करते हैं ।३२।

८० अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं [1]कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।३३।

यदि तू इस धर्म युद्ध को न करेगा, तो अपने (वर्ण) धर्म और (विजय से प्राप्त) होने वाले यश को खोकर पाप का भागी बनेगा ।३३।

८१ अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्तितेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ।३४।

लोग तेरी ऐसी निन्दा करेगें । जो कभी न मिटेगी, और किसी माननीय पुरुष का अपयश तो उसके लिये मृत्यु से भी बढकर होता है ।३४।

८२ भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ।३५।

महारथी लोग भय के कारण तुझे रण से हटा समझेंगे, अब जो तुझे बड़ा मान रहे हैं, वही तुझे तुच्छ समझने लगेंगे ।३५।



१ महादेवादिसमागम निमित्तां इति शं० ।

८३ अवाच्य वादाँश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ।३६।

इससे बढ़कर दुःख की बात क्या होगी? कि तेरे शत्रु तेरी शक्ति की निन्दा करते हुए तुझे बहुत सी वे बातें कहेंगे, जो नहीं कहनी चाहिये ।३६।

८४ हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृत-निश्चयः ।३७।

हे कुन्ती पुत्र! मर गया तो स्वर्ग पायेगा, जीता रहा तो पृथ्वी का उपभोग करेगा, इसलिये युद्ध के लिये निश्चय करके उठ खड़ा हो जा ।३७।

[1]सुख दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।३८।

सुख-दुःख, हानि-लाभ, और जय-पराजय को समान समझकर युद्ध में लगजा, इस प्रकार तुझे पाप न लगेगा ।३८।

---

१ गीतामृत पृ० xxvii देखें ।

१ गीता के प्रधान उपदेश का दिग्दर्शन किया है। श्री राष्ट्र पिता गांधी ।

८६-एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ।३९।

हे अर्जुन ! यह तुझे सांख्य (ज्ञान मार्ग का) ज्ञान दिया, अब योग (कर्ममार्ग) (कर्म करने की रीति का) ज्ञान सुन, जिसका आश्रय लेने से तू कर्म बन्धन से छूट जायेगा ( तू कर्म करने पर भी उसके बन्धन में नहीं आयेगा (अर्थात् उस कर्म का तेरे मन पर प्रभाव न पड़ेगा) ।३९।

८७ नेहाभिक्रम नाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
[1]स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।४०।

इस कर्म योग में आरम्भ किये का नाश नहीं होता (उसके संस्कार अन्त: करण में बने रहते हैं) न ही (उसमें कमी रह जाने पर) दोष (उलटा फल) होता है, इस (कर्मयोग) धर्म का थोड़ा सा किया हुआ साधन भी बड़े भारी भय से बचा लेता है ।४०।

८८ व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ! ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।४१।

हे कुरुनन्दन अर्जुन ! इस कर्म योग (निष्काम कर्म) में निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है । पर (जो इस कर्म योग पर) निश्चय नहीं करते (उन सकाम कर्म करने वालों की अनेक कामना होने से) अनेक बुद्धियां (विचार) होती हैं । अर्थात एक विचार की आगे कई शाखा निकलती हैं

---

१ गीतामृत पृ० xxvii देखें ।

८९ यामिमां पुष्पितां वाचं [1]प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
[2]वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ।४२।

हे अर्जुन! वेद के भाव को विना जाने केवल उनके शब्दों पर मुग्ध, अल्पज्ञ लोग, पुष्पित (सुहावनी) मन को लुभाने वाली, इस वाणी को कहते हैं कि ("स्वर्ग से बढ़ कर) और कुछ नहीं" ।४२।

९० कामात्मानः स्वर्गपरा जन्म-कर्म-फलप्रदाम् ।
क्रिया-विशेष-बहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ।४३।

(वे) कामनाओं के पुतले, स्वर्ग को सबसे बड़ा पुरुषार्थ समझने वाले, जन्म रूपी कर्म फल देने वाली (अर्थात जिसके करने से मनुष्य जन्म मरण के बन्धन में पड़ा रहता है) भोग और ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए यज्ञ सम्बन्धी अनेक प्रकार की क्रियों वाली विधियां (बतलाते हैं) ।४३।

९१ भोगैश्वर्य प्रसक्तानां तयापहृत-चेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः [3]समाधौ न विधीयते ।४४।

उस वाणी से जिनका विवेकज्ञान दब गया है, उन भोग और ऐश्वर्य के दिवानों (प्रेमियों) के अन्तः करण में (सांख्य (आत्मज्ञान) वा कर्म योग में) निश्चयात्मिका बुद्धि उत्पन्न ही नहीं होती । ४४ ।

---

१-इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः । मु० प० १।२।१०।

२-गीतामृत पृ० xxiii पर देखें ।

३-समाधीयते अस्मिन् पुरुषोपभोगाय सर्वं इति समाधिः अन्तः करणं ।इति शं०

६२ त्रैगुण्य-विषया [1]वेदा निस्त्रै-गुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।४५।

हे अर्जुन ! ( त्रैगुण्य विषया ) वेद (कर्मकाण्ड भाग) प्रकृति के तीनों गुणों की बात ही कहते हैं, परन्तु तू तो (निस्त्रैगुण्य) इन तीनों गुणों से ऊपर उठ (अर्थात् प्रकृति के झन्झटों से पृथक् हो) (निर्द्वन्द्वो) (हानि-लाभ, सुख-दुःख । इन परस्पर विरोधी) युग्मों की बात छोड कर (नित्य सत्त्वस्थः) परमेश्वर पर विचार कर (निर्योगक्षेमः) पाने और सम्भालने के झगड़े छोड़कर (अर्थात् निष्काम भाव से कर्म करते हुए) ( आत्मवान् ) अपने आपको पहचान ।४५।

---

१ (क) इस श्लोक से आपततः प्रतीत होने लगता है, कि वेद केवल प्रकृति के विषय में ही बतलाते हैं, उनसे ईश्वर का ज्ञान प्राप्त नहीं होता परन्तु गीता के १५ वें अध्याय के "वेदश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" इस १५ वें श्लोक से स्पष्ट है, कि वेद ईश्वर का भी प्रतिपादन करते हैं ।
और गीता जिन उपनिषदों का भाव बतलाती है, वहां भी लिखा है—
"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति" । बृ० उ० ।४।४।२२।
उस सर्वात्मा को ब्राह्मण वेदाध्ययन से जानने की इच्छा करते हैं ।

अब प्रश्न उपस्थित होता, कि है, फिर भगवान् ने "त्रैगुण्य विषया वेदाः" ऐसा क्यों कहा ? कुछ विद्वान् इसकी संगति यों लगाते हैं, कि वेद में कर्म,

## ४५ वें श्लोक की टिप्पणी

उपासना और ज्ञान ये तीन काण्ड हैं, "त्रैगुण्य विषया वेदाः" इस श्लोक में वेदशब्द केवल कर्मकाण्डात्मिक वेद भाग के लिये आया है, अर्थात् कर्मकाण्ड के यज्ञ यागादि केवल प्रकृति के विषय की बाबत कहते हैं। तू उससे ऊपर उठकर ज्ञान काण्ड की शिक्षा के अनुसार निर्द्वन्द्व हो जा।

(ख) एक यहभी मत है, कि आम्नायस्य क्रियार्थत्वादनर्थ.य मतदर्थानाम् पू० मी० १।२।११।

"तस्मादनित्यत्व मुच्यते" पू०मी० १।५।१२। इनसूत्रों के उत्तरमें मीमांसा दर्शन में कहा है, कि "स्तुत्यर्थेन विधिनास्युः" इति पू० मी०। अर्थात् इस सूत्रों के आधार पर कुछ मीमांसिकों का यह मत है, कि वेद में यज्ञ के सिवाय और किसी बात का वर्णन नहीं। जो मन्त्र आपाततः और विषयों के प्रतीत होते हैं, वे भी प्रकारान्तर से यज्ञ के प्रशंसक होने के कारण उसके अर्थवाद मात्र हैं। अतः (पशु, धन, पुत्र, ऐश्वर्य आदि सांसारिक सभी सुख तथा स्वर्ग प्राप्ति आदि पारलौकिक 'आनन्द' इन दोनों प्रकर की) कामनाओं के लिये उन्होंने अनेक विधि विधान वाले यज्ञों का विधान किया है। उनके मत से स्वर्ग ही सबसे बडा पुरुषार्थ। मुक्ति कोई वस्तु नहीं। इन्हीं याज्ञिकों को भगवान् ने वेदवादरता कहा है, क्योंकि उन यज्ञिकों के मत से वेदमें केवल कर्म काण्ड ही है, ज्ञान आदि कुछ नहीं अतः अर्जुन को भगवान् कहते हैं, कि तू उनका अनुयायी मत बन,

## ४५ वें श्लोक की टिप्पणी

क्योंकि जो केवल अपना सुख ही चाहता है, वह स्वार्थी कभी कर्तव्य पालन नहीं कर सकता और तुझे लोकहित के लिये कर्तव्य पालन करना है।

(ग) श्री रामानुजाचार्य कहते हैं, कि तीन गुणों की प्रचुरता से युक्त सभी पुरुष त्रैगुण्य शब्द से कहे गये हैं और वेद तमो गुण प्रधान, राजो गुण प्रधान और सत्व गुण प्रधान सभी प्रकार के पुरुषों पर वात्सल्य भाव रखने के कारण उनके लिये हित का उपदेश करते हैं। यदि वेद उनके गुणों के अनुकूल उन्हें उपदेश न करें, तो रज और तमो गुण की अधिकता के कारण सात्विक फल-मोक्ष से विमुख वे अपने लिए अपेक्षित फल साधन को न जानने के कारण वासनाओं की प्रबलता से विवश होकर जो वस्तुतः सुख के साधन नहीं, उन्हीं को भ्रम से सुख के साधन समझ उनमें लगकर नष्ट हो जायें। इसी लिये वेद त्रैगुण्य अर्थात् सभी प्रकार के मनुष्यों के लिये हैं। परन्तु तुझ में तो इस समय सत्वो गुण बढ़ा हुआ है, अतः तू निस्त्रैगुण्य हो अर्थात् परस्पर मिले हुए तीनों गुणों की प्रचुरता न बढ़ा, किन्तु केवल बढ़े हुए सत्व में सदा स्थित हो।

६३-२ 'यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ।४६।

जहां सब ओर जल ही जल भरा हो, वहां जितनी आवश्यकता किसी व्यक्ति को कुंए की पड़ती है। ब्रह्मज्ञानी को उतनी ही वेद (प्रकरणानुसार जगत के ऐश्वर्य और स्वर्ग का उपाय बतलाने वाले वाले कर्मकाण्डात्मक वेद) की पडती है ।४६। ॐ

---

ॐ भाव यह कि, जैसे पानी में रहने वाले जीव को अपने लिये परिश्रम कर कुंए में से पानी निकालने की आवश्यकता नहीं रहती। उसी तरह सभी सुख ऐश्वर्या और आनन्दों के आकर भगवान् को प्राप्त करने वाले व्यक्ति को तुच्छ सांसारिक ऐश्वर्य वा स्वर्ग की इच्छा नहीं रहती।

१ (क) श्रीरामानुजार्य इसका यह अर्थ करते हैं, कि जैसे सब के लिये बनाये गये सब ओर से भरे हुए जलाशय से भी प्यासे पुरुष को जितने जल की आवश्यकता होती है, वह उतना ही लेता है, सबनहीं ले लेता वैसे मुक्ति चाहने वाले ज्ञानी ब्राह्मण को वेदों से जितना मोक्षसाधन विषयक ज्ञान है, उतना ही लेना चाहिये, दूसरा नहीं।

(ख) श्री शंकराचार्य लिखते हैं, जैसे कूप तालाब आदि अनेक छोटे २ जलाशयों से जितना स्नान-पानादि प्रयोजन सिद्ध होता है, वह सब प्रयोजन सब ओर से परिपूर्ण महान् जलाशय से उतने ही परिमाण में अपने आप सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण वेदोक्त कर्मों

# ४६ वें श्लोक की टिप्पणी

से जो फल मिलता है, उतना वह विज्ञान रूप फल परमार्थ तत्व को जानने वाले संन्यासी को तो अपने आप मिल जाता है।

(ग) राष्ट्र पिता श्री गांधी जी ने इसका यह अर्थ किया है —

जैसे—जो अर्थ कूप से नकलते हैं, वे ही समस्त अर्थ सब प्रकार से सरोवर से निकलते हैं। इसी प्रकार जो चार वेदों में है, वही ज्ञानवान् और ब्रह्मपरायण को आत्मानुभव से मिलता है।

(घ) एक अर्थ यह भी हो सकता है—महाभारत शल्य पर्व अध्याय ३६ वें में बलराम की तीर्थ यात्रा के वर्णन में एक "उदपान" नामक तीर्थ है, वहां उसके तीर्थ होने का कारण लिखकर यह बतलाया है, कि गौतम के पुत्र त्रित ने उस तीर्थ के लिये, देवों से यह वर प्राप्त किया था। कि ( यश्चेहोपस्पृशेत्कूपे स सोमप-गतिं लभेत्। महा० श० ३६।४५।) जो इस तीर्थ में स्नान करे, उसे वही गति प्राप्त हो, जो यज्ञ में सोमपान करने वाले को प्राप्त होती है। अर्थात् यहां स्नान करने से स्वर्ग प्राप्ति हो जाय। इसी बात को ध्यान में रखकर भगवान् यहां याज्ञिकों को व्यंग से यह कहते हैं, कि जैसा कि तुम मानते हो, यदि सभी वेद केवल स्वर्ग प्राप्ति मात्र के ही साधन हैं। ईश्वर प्राप्ति वा मोक्ष के विषय में उनमें कुछ नहीं, तब तो लोगों को जितना प्रयोजन सब ओर से पानी से भरे इस "उदपान" नाम के तीर्थ हैं, उतना ही कर्मकाण्ड के जानने वाले याज्ञिक को समस्त वेदों से हुआ। अर्थात् कठिन विधि विधान के परिश्रम से जो मिलता है, वह तो अनायास उदपान तीर्थ के स्नान मात्र से मिलजाता है, फिर तुम्हारे मत से वेद का क्या महत्व रहा?

(घ) गीतामृत पृ० xxviii देखें।

६४-कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतु र्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।४७।

तेरा कर्म करने में ही अधिकार है, (उनसे उत्पन्न होने वाले) फलों पर कभी नहीं, तू कर्म फल प्राप्ति का कारण मत बन । (अर्थात् तेरे कर्म फल के उद्देश्य से न हों) कर्म न करने में भी तेरी रुचि न हो ।४७।

६५-योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।४८।

हे अर्जुन ! योग में स्थित हो और आसक्ति छोड़ कर सिद्धि तथा असिद्धि में सम होकर कर्म कर; इस समता का नाम ही योग है । ४८।

६६-दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ।४९।

हे अर्जुन ! समत्व बुद्धि (निष्काम कर्म) से (सकाम) कर्म बहुत ही निकृष्ट है । तू समत्व बुद्धि का आश्रय लेने की इच्छा कर (समत्व बुद्धि से कर्म कर ) फल के उद्देश्य से कार्य करने वाले तो कृपण ( विचारे, तुच्छ, गये-बीते) होते हैं ।४ ।

६७-बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु [1]कौशलम् ।५०।

समत्व बुद्धि (निष्काम कर्म) से युक्त इस संसार में पाप पुण्य दोनों से अलिप्त रहता है। इसलिये (समत्व बुद्धि) योग में लगजा। यह समत्व रूप योग ही कर्मों में कुशलता है। अर्थात (समत्व योग ही कर्म बन्धन से छूटने का उपाय है (अथवासमत्व बुद्धि से कर्म करने की कुशलता को ही योग कहते हैं)। ।५०।

६८-कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्म-बन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ।५१।

मन पर काबू पाने वाले लोग समत्व बुद्धि से युक्त हो कर्म से उत्पन्न हुए फल को त्याग कर जन्मरूप बन्धन से मुक्त हो, दुःख रहित (मोक्ष) पद को प्राप्त होते हैं ।५१।

६९-यदा ते [2]मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।५२।

जब (मैं और मेरा इस) मोह के दल दल से तेरी बुद्धि पार हो जायगी, तब तू सुने हुए और (जिसे तू ) सुनने योग्य (समझ रहा है) (इन दोनों के प्रभाव) से विरक्त (रहित) हो जायेगा ।५२।

---

१ तत् हि कौशलं यत्बन्धस्वभावानि अपि कर्माणि समत्व बुद्ध्या स्वभावात् निवर्तन्ते ।इति शं०।

२ "मैं और मेरा।" इस संकुचित भाव से जब तेरी बुद्धि ऊपर उठेगी

**१००-[1]श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।**
**समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ।५३।**

अनेक प्रकार की बातें सुनने से घबराई हुई, तेरी बुद्धि जब समाधि (आत्मा अर्थात् अपने आप) में दृढ़ और निश्चल होकर स्थिर होगी तभी तू योग (समत्व) को प्राप्त होगा ।५३।

अर्जुन उवाच

**१०१-स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव ।**
**स्थिरधीः किं प्रभाषेत, किमासीत व्रजेत किम् ।५४।**

अर्जुन ने कहा—

हे केशव ! समाधि (आत्मा) स्थित, में स्थित [2]प्रज्ञ का क्या लक्षण है, स्थिर बुद्धि कैसे बोलता, कैसे बैठता है और कैसे चलता है ? ।५४।

---

तब जिन बातों को तू सुनने योग्य समझ रहा है, उन सुनी हुई बातों का तुझ पर कोई प्रभाव न रहेगा ।

१ (क) जब उन अनेक प्रकार की सुनी हुई बातों से गड़बड़ाई हुई तेरी बुद्धि स्थिर होगी तब बाहरी पदार्थों से हट कर आत्मा में लगेगी और तभी तुझे समभाव प्राप्त होगा ।

(ख) अनेक साध्य-साधन-सम्बन्ध प्रकाशन-श्रुतिभिः श्रवणैः, विप्रतिपन्ना नाना प्रतिपन्ना विक्षिप्ता । इति शं०

(ग) श्रुतिः श्रवणम्, अस्मत्तः श्रवणेन विशेषतः प्रतिपन्ना, सकलेतर-विसजातीय नित्यनिरतिशय-सूक्ष्मतत्व विषया ।इति रा०।

(घ) गीतामृत पृष्ठ xxviii देखें ।

श्रीभगवानुवाच

**१०२-प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ ! मनोगतान् ।**
**आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थित-प्रज्ञस्तदोच्यते ।५५।**

श्रीभगवान् बोले—

हे पार्थ ! जब मनुष्य मन की सभी कामनाओं को छोड़ देता है और अपने आप (आत्मा) में ही सन्तुष्ट रहता है, तब उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं ।५५।

**१०३-दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।**
**वीतरागभयक्रोधः स्थिरधीमुनिरुच्यते ।५६।**

जो दुःखों से घबराता नहीं, और सुखों की चाह नहीं करता (अर्थात् सुखों के पीछे नहीं दौड़ता ) । आसक्ति, भय और क्रोध जिसके नष्ट हो चुके हैं, वह मुनि (संयमी) स्थित धी कहता है ।५६।

**१०४-यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।**
**नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठता ।५७।**

जो सभी इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति रहित है, उन २ से (सुख के साधन) शुभ को पाकर प्रसन्न नहीं होता और न ही (दुःख के सोधन) अशुभ को प्राप्त कर उससे द्वेष ही करता है, उसकी बुद्धि स्थिर होती है ।५७।

१०५-यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य [1]प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।५८।

जैसे कछुआ अपने अङ्गों को सब ओर से अपने अन्दर सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार जब यह (कर्म योगी) अपनी इन्द्रियों को उनके बाहरी (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि) विषयों से समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है ।५८।

१०६-विषया विनिवर्तन्ते [2]निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं [3]रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।५६।

भूखा रहने से (भूख के मारे इन्द्रियों के निर्बल होने के कारण शक्ति हीन) व्यक्ति के भी शब्द आदि विषय तो छूट जाते हैं, किन्तु उनकी चाह नहीं मिटती, परन्तु इस (कर्मयोगी) की तो विषयों की चाह (भी) आत्मा को देखकर मिट जाती है ।५६।

---

१ श्री रामानुजाचार्य लिखते हैं कि ५५ वें से ५८ वें श्लोक तक चार प्रकार की ज्ञान निष्ठा का वर्णन है, इसमें पहिली २ पिछली २ से सिद्ध होती है और हर पहिली पिछली से उत्तम है।

२ इन्द्रियाणाम् आहारो विषयाः ।
निराहारस्य—विषयेभ्यः प्रत्याहृतेन्द्रियस्य ।

३ रसो रागः अपि आत्मस्वरूपं विषयेभ्यः- परं सुखतरं ।इति रा०।

१०७-यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि [1]हरन्ति प्रसभं मनः ।६०।

हे कुन्ति पुत्र, इन्द्रियां इतनी प्रबल हैं, कि यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुष के मन को भी बलात्कार से खींच लेती हैं ।६०।

१०८-तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।६१।

उन सब इन्द्रियों को वश में करके मेरे (परमेश्वर के) आश्रित हो सावधान चित्त से बैठना चाहिये, (क्योंकि) जिसके वश में इन्द्रियां होती हैं, उसा की बुद्धि स्थिर होती है ।६१।

१०९-ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।६२।

(शब्दस्पर्शादि) विषयों का ध्यान करते रहने से पुरुष की उनमें आसक्ति (लागव) उत्पन्न हो जाती है । आसक्ति होने से (उन्हें) प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है । इच्छा (में किसी प्रकार की बाधा होने) से क्रोध उत्पन्न होता है ।६२।

---

१ बलवानिन्द्रिय ग्रामो विद्वांसमपिकर्षति । मनु० २।२१५।

२ अर्जुन के "किं आसीत" इस तीसरे प्रश्न का यह उत्तर है । ईश्वर की सहायता के बिना पुरुष के सभी प्रयत्न व्यर्थ जाते हैं । अतः उसका आश्रय लेना चाहिये ।

११०-क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृति-विभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।६३।

क्रोध से कार्याकार्य की विचार शक्ति नहीं रहती: कि कर्तव्य विमूढ हो जाने पर स्मृतिभ्रम ( पहले ऐसा कार्य करने वाले लोगों को उससे क्या हानि-लाभ हुआ इस लौकिक अनुभव में उलट फेर) हो जाता है, स्मृतिभ्रम से विचार शक्ति जाती रहती है और बुद्धि (विचार शक्ति) के नाश से (मनुष्य) नष्ट हो जाता है ।६३।

१११-रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधि गच्छति ।६४।

(परन्तु) मन वश में रखने वाला, अपने वश में की हुई, राग द्वेष से रहित हुई २ इन्द्रियों से उनके व्यापार को चलाता हुआ प्रसन्नता और स्वास्थ्य को प्राप्त होता है ।६४।

११२-प्रसादे सर्वदुःखानां हानि-रस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।६५।

प्रसन्नता (चित्त की निर्मलता) से इसके सभी दुःख दूर हो जाते हैं, क्योंकि जिसका चित्त प्रसन्न (निर्मल) होता है, उसकी बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है ।६५।

११३-नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य, न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।६६।

(समत्व) योग से रहित पुरुष की बुद्धि (स्थिर) नहीं हो सकती, और न ही समता रहित को आत्म ज्ञान पर श्रद्धा ही हुआ करती है, श्रद्धा हीन को शान्ति नहीं मिलती और जो अशान्त है, उसे सुख कहां मिल सकता है ? ।६६।

११४-इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।६७।

(विषयों में भटकने वाली) इन्द्रियों के पीछे जो मन चलता है, वह उस मनुष्य की बुद्धि को (भले मार्ग से बुरे मार्ग की ओर उसी प्रकार) खींच कर ले जाता है, जिस प्रकार वायु नाव को पानी में (गन्तव्यस्थान से हटा कर) दूर ले जाता है ।६७।

११५ तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।६८।

इसलिये, हे महाबाहु अर्जुन! जिसकी इन्द्रियां सब प्रकार के विषयों से निवृत्त हो (हट) कर वश में हो गई हैं। उसी की बुद्धि स्थिर होती है ।६८।

**११६ या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।**
**यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।६९।**

जो सब प्राणियों के लिये रात्रि है (जैसे रात्रि में किसी को कुछ नहीं दीखता. इसी प्रकार निष्काम कर्म योग में सकाम पुरुषों को कोई फल नजर न आने से उनके लिये वह रात्रि के समान है ) उसमें कर्मयोगी (कर्तव्य बुद्धि से कर्म करने के लिये) जागता (सचेत रहता) है और जिस (काम्य कर्म कलाप में) सभी लोग जागते हैं (बड़ी सावधानी से प्रवृत्त रहते हैं) स्वात्विक दृष्टि से देखने वाले कर्मयोगी के लिये वह (कर्म अज्ञान रूप अन्धकार को उत्पन्न करने वाले होने से) रात्रि के समान है । अर्थात साधारण आदमी निष्काम कर्मों की ओर से सोये रहते हैं, पर कर्म योगी उन्हें कर्तव्य समझ कर करता है और जिस स्वार्थ की ओर आम आदमी लगे रहते हैं उसके कुफल को समझते हुए कर्मयोगी उसमें प्रवृत्त नहीं होता ।६९।

**११७ आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं,**
**समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।**
**तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे,**
**स शान्ति माप्नोति न कामकामी ।७०।**

परिपूर्ण (लबालब भरे हुए) निश्चल, (अपनी मर्यादा में) स्थित समुद्र में जिस प्रकार सभी (नदियों के ) पानी समा जाते हैं । इसी प्रकार जिसमें (विकार उत्पन्न किये बिना) सभी भोग वासनाऐं अन्दर ही विलीन हो जाती हैं । वही शान्ति प्राप्त करता है, भोग वासनाओं की इच्छा वाले को शान्ति नहीं मिलती ।७०।

११८ विहाय कामान् यः सर्वान् [1]पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ।७१।

जो पुरुष सभी कामनाओं को छोड़ निष्काम भाव से ममत्व और अहंकार से रहित होकर व्यवहार करता है, वह शान्ति पाता है ।७१।

११६ एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।७२।

हे पार्थ, स्थितप्रज्ञ की जो यह स्थिति कही है, यह ब्रह्मभाव को प्राप्त हुओं की स्थिति है। इसे प्राप्त कर कोई मोह में नहीं फंसता (युवास्था की तो बात ही क्या) आयु के अन्त समय में भी इस स्थिति को प्राप्त कर मनुष्य ब्रह्मनिर्माण को पा लेता है। (ब्रह्म में लीन हो जाता है, अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेता है) ।७२।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु, ब्रह्मविद्यायां योग-शास्त्रे
श्री कृष्णार्जुन संवादे सांख्य योगो नाम

॥ [2]द्वितीयोऽध्यायः ॥

---

१ श्लोक ५४ वें के "का भाषा" का ५५ वें में, "किं प्रभाषेत" का ५७ वें में "किमासीत" का ६१ वें और "व्रजेत किं" का ७१वें श्लोक में उत्तर है।

२ इस अध्याय में संजय ने ३, अर्जुन ने ६, और श्रीकृष्ण ने ६३ श्लोक कहे हैं। और आरम्भ से यहां तक कुल ११६ श्लोक हुए हैं।

## अथ तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

अर्जुन उवाच—

१२० ज्यायसी [1]चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ! ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ! ।१।

अर्जुन ने कहा—

हे जनार्दन ! यदि तुम्हारे मत (विचार) में कर्म की अपेक्षा बुद्धि (ज्ञान) श्रेष्ठ है। तो केशव ! (फिर इस युद्ध रूप) घोर कर्म में मुझे क्यों लगाते हो ? ।१।

१२१ व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ।२।

इस मिले जुले (संदिग्ध) से वाक्य से मेरी बुद्धि को मोहित (किंकर्तव्य विमूढ) सी बना रहे हो। इस लिये एक निश्चित (बात) कहो, जिससे मैं कल्याण प्राप्त करूं ।२।

---

१ [क] तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय ! युद्धाय कृत निश्चयः ।२।३७। ततो युद्धाय युज्यस्व ।२।३८। कर्मण्येवाधिकारस्ते ।२।४७। इन वाक्यों से कहा युद्ध कर, तेरा कर्म में ही अधिकार है।

[ख] दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धि योगाद् धनञ्जय २।४९। इससे कर्म को बुद्धि योग से बहुत ही निकृष्ट बतला "बुद्धि युक्तो जहातीह उभे सुकृत दुष्कृते। २।५०" इसमें ज्ञान की प्रशंसा की, तब अर्जुन को संदेह हो गया कि जब ज्ञान, कर्म से श्रेष्ठ है तो मुझे कर्म करने को क्यों कहते हैं।

श्रीभगवानुवाच —

१२२ लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ! ।
ज्ञान-योगेन सांख्यानां कर्म-योगेन योगिनाम् ।३।

श्रीभगवान् बोले—

हे निष्पाप अर्जुन ! मैंने पहिले कह दिया है कि इस लोक में दो प्रकार साधन (स्थितियों) की वृत्तियां हैं। सांख्यों की ज्ञान योग से और योगियों की कर्म योग से । ।३।

१२३ न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव, सिद्धिं समधिगच्छति ।४।

कर्मों को आरम्भ न करने से पुरुष नैष्कर्म्यं (कर्म योगी की सिद्धावस्था) (कर्म रहित अवस्था) को प्राप्त नहीं कर सकता (क्योंकि चाहे कोई भी कर्म शुरू न करे परन्तु चुप बैठना भी तो एक कर्म ही है, फिर वह कर्म न करने वाला कैसे कहला सकता है) और न ही कर्म छोड देने से सिद्धि (ज्ञान योग की परि पक्वावस्था को) (सफलता) प्राप्त कर सकता है ।४।

१२४ नहि कश्चित् [1]क्षणमपि, जातु तिष्ठत्य कर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म, सर्वः प्रकृतिजै र्गुणैः ।५।

कोई एक क्षण के लिये भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। निश्चय ही सभी मनुष्य समुदाय प्रकृति से उत्पन्न गुणों (सत (राग) रजः (द्वेष) तम ( भय ) के पराधीन हो कर्म करता है ।५।

---

१ गीतामृत पृ० xxix देखें ।

१२५ कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।६।

जो मनुष्य कर्म करने वाली इन्द्रियों को रोक कर मन से ( उनके भोगों का) स्मरण करता रहा है, वह मूढ दम्भी कहता है ।६।

१२६ यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ।७।

हे अर्जुन ! जो मनुष्य मन से इन्द्रियों को वश में कर आशक्ति (अहन्ता ममता) से रहित हो, कर्मेन्द्रियों से कर्म योग ( निष्काम कर्म) करता है, वही श्रेष्ट है ।७।

१२७ नियतं कुरु कर्म त्वं, कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्राऽपि च ते न [1]प्रसिद्ध्येदकर्मणः ।८।

तू (शास्त्र द्वारा) नियत (कर्तव्य) कर्म कर, कर्म न करने से कर्म करना निश्चय ही अधिक अच्छा है। कर्म न करने से तो तेरे शरीर की स्थिति भी नहीं रह सकती ।८।

---

१ गीतामृत विमर्श पृ० xxix देखें ।

१२८ [1]यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म बन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ।९।

यज्ञ के लिये किये जाने वाले कर्मों के सिवाय दूसरी प्रकार के ( स्वार्थ के लिये किये ) कर्मों से यह मनुष्य समुदाय बन्धता है, इसलिये हे कुन्ति पुत्र ! तू अहन्ता ममता छोडकर यज्ञ के लिये कर्म कर ।९।

१२९ सहयज्ञाः प्रजाः [2]सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक् ।१०।

प्रजापति ने सृष्टि के आदि में यज्ञ के साथ प्रजा को उत्पन्न करके कहा । इस यज्ञ से तुम बढ़ो और यह तुम्हारी सभी इच्छाओं को पूरा करने वाला हो ।१०।

१३० देवान् [3]भावयतानेन ते देवा [4]भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः, श्रेयः परमवाप्स्यथ ।११।

इस यज्ञ से तुम देवताओं की अराधना करो और वे देवता तुम्हें बढ़ावें, एक दूसरे को प्रसन्न करते हुए तुम परम कल्याण को प्राप्त करो ।११।

---

१ यज्ञ शब्द अज् धातु से बनता है, इस धातु के अर्थ है, देव पूजा, संगति करण और दान । अतः यज्ञ का अर्थ हुआ देवताओं के लिये, या ईश्वरार्पण वा (संगति करण) संगठन के वास्ते, अथवा दान (स्वार्थ रहित त्याग) के लिये किया कर्म ।

२ गीतामृत पृ० xxix देखें ३ आराधयता इति रा० ४ आप्यायन्तु इति शं०

१३१ इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो, यो भुंक्ते स्तेन एव सः ।१२।

यज्ञ से प्रसन्न हुए [२] देवता तुम्हें इच्छित भोगों को देंगे, उनके दिये हुए उन भोगों को उन्हें अर्पण किए विना जो भोगता है। वह निश्चित ही चोर हैं ।१२।

१३२ यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा, ये पचन्त्यात्मकारणात् ।१३।

यज्ञ से बचे हुये भाग को खाने वाले सभी पापों से मुक्त हो जाते हैं, किन्तु जो अपने लिये ही पकाते हैं, वे पापी पाप खाते हैं ।१३।

१३३ अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्न सम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्म समुद्भवः ।१४।

अन्न से जीव उत्पन्न होते हैं, अन्न वर्षा से होता है, वर्षा [2]यज्ञ से होती है, यज्ञ (ऋत्विज और यजमान के) कर्म से उत्पन्न होता है ।१४।

---

१-प्राचीन समय में भारतवार्षियों को यह एक विद्या आती थी। जिससे वे यज्ञानुष्ठान से वृष्टि करा लिया करते थे। इस विषय के प्रमाण श्रुति तथा स्मृति दोनों में पाये जाते हैं और निरुक्त में तो यज्ञ से वर्षा होने का एक पुराना यह इतिहास भी दिया है।

## १४ वें श्लोक की टिप्पणी

(क) निरुक्त—ततः शन्तनुः राज्ये द्वादशवर्षाणि देवो न ववर्ष। तमूचु ब्राह्मणाः अधर्मस्त्वया चरितः ··· तमुवाच देवापिः पुरोहितस्तेऽसानि याजयानि च त्वेति। तस्यैतद्वर्षा काम सूक्तम्, "यद्देवापिशंतवे" इति निरुक्त नैघण्टु का० अ० १२ ख० ११।

(ख) श्रुतिः—स यदि वृष्टिकामः स्यात्। यदीष्टया वा यजेत ········ ब्रूयाद्वृष्टिकामो वा अस्मीति ··· वर्षति हैव तत्र यत्रैवं ऋत्विजः संवदाना यज्ञेन चरन्ति। शतपथ ब्रा० १।५।२।१६।

(ग) स्मृतिः—अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्य मुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टि र्वृष्टे रन्नं ततः प्रजाः। मनुः ३।७६। किन्तु आज हमारे यहां तो यह कोरी कल्पना रही गई है, परन्तु अमेरिका में ऐसे प्रयोग किये जा रहे हैं, जिससे इच्छित स्थान पर वृष्टि कराई जा सके और उसमें उन्हें सफलता भी हुई है।

(घ) कुछ विद्वानों का कहना है, कि वेद में बतलाये हुए "देवा यज्ञमन्वत। वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः। यजुः ३१।१४। इस आकाश में होने वाले यज्ञ से वर्षा होती है।

(ङ) पीतामृत पृ० xxx पर देखें।

१३४ कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।१५।

तू यह जान (समझ) कि कर्म (का ज्ञान) [1]ब्रह्म (वेद) से उत्पन्न होता है, ब्रह्म (वेद) अक्षर (परमेश्वर के निश्वास से [अथवा [2]अक्षरों (अर्थात् अकारादि वर्णों) से अध्ययन (द्वारा) अभिव्यक्त होता है तथा वे अक्षर ( वर्ण समुदाय) फिर मनुष्य के कण्ठताल्वाद्यभिघात से] उत्पन्न होता है, इसलिये वह सर्वव्यापक ब्रह्म (परमेश्वर) सदा यज्ञ में स्थित है। (अर्थात् यज्ञ साक्षात् [3]भगवान् की मूर्ति है। यज्ञ के द्वारा उसकी प्राप्ति होती है ) ।१५।

---

१-ब्रह्म वेदः स उद्भवः कारणं यस्य, तत् कर्म ब्रह्मोद्भवं जानीहि । ब्रह्म पुनः वेदाख्यं । (२) अक्षर समुद्भवम् । अक्षरं ब्रह्म परमात्मा समुद्भवो यस्य, तत् अक्षर समुद्भवं ब्रह्म वेद इत्यर्थः। यस्मात् साक्षात् परमात्माख्यात् अक्षरात्-पुरुष निश्वासवत् समुद्भूतं ब्रह्म, तस्मात् सर्वार्थ प्रकाशकत्वात् सर्वगतम् । सर्वगतम् अपि सत् नित्यं सदा यज्ञविधिप्रधानत्वात् यज्ञे प्रतिष्ठितम् । इति श्री शंकराचार्यः ।

१ (ख) अत्र च ब्रह्म शब्दे निर्दिष्टं प्रकृति-परिणाम-रूपं शरीरम् "ममयोनिर्महद् ब्रह्म" ( गी० १४।३) । इति वक्ष्यते ।

# ४५ वें श्लोक की टिप्पणी

अतः कर्म ब्रह्मोद्भवम् इति प्रकृति-परिणाम-रूप-शरीरोद्भवं कर्म इत्युक्तं भवति। अत्र अक्षर शब्द निर्दिष्टो जीवात्मा, अन्न पानादिना तृप्ता क्षराधिष्ठितं शरीरं कर्मणे प्रभवति, इति कर्म साधनभूतं शरीरं अक्षर समुद्भवम्। तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म सर्वाधिकारि गतं शरीरं नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितं यज्ञ मूलम् इत्यर्थः। इति श्री रामानुजाचार्यः।

१—अक्षराणि प्रसिद्धानि, तेभ्योह्यभिव्यजते ब्रह्म, वेदः।

२—तानि चाक्षराणि भूताभिव्यङ्ग्यानि इति चक्रम्। इति श्री मध्वाचार्यः।

३—यज्ञो वै विष्णुः। तैति सं० १।७।४।

१—श्री शंकराचार्य का कहना है, कि यहां ब्रह्म का अर्थ वेद है। कर्म की उत्पत्ति वेद से होती है और वेद अक्षर अर्थात् परमात्मा के निश्वास से प्रकट हुआ है। अतः समस्त अर्थों के प्रकाशक वेद की यज्ञ विधि में प्रधानता होने से वह सदा यज्ञ में प्रतिष्ठित है।

१—श्री रामानुजाचार्य ने लिखा है, कि यहां ब्रह्म का अर्थ शरीर और अक्षर का अर्थ जीवात्मा है। अर्थात् कर्म शरीर से उत्पन्न होता है और शरीर अक्षर से) अर्थात् जीवात्मा से अधिष्ठित अन्न पानादि से तृप्त शरीर कर्म करने में समर्थ) होता है। अतः सभी अधिकारियों को प्राप्त शरीर सदा यज्ञ मूलक है।

२—श्री मध्वाचार्य का कहना है कि अक्षर शब्द वर्ण के अर्थ में गीतायें भी आया है 'अक्षराणामकारोऽस्मीति गी० १०।३३।अतः अक्षर का अर्थ वर्ण है।

**१३५ एवं प्रवर्तितं 'चक्रं'[1] नानुवर्तयतीह यः ।**
**अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ।१६।**

हे पार्थ! इस प्रकार चलाये हुए, चक्र [जीव अन्न से, अन्न वर्षा से, वर्षा यज्ञ से, यज्ञ कर्म से, कर्म वेद से, वेद अक्षरों से, अक्षर जीव के कण्ठ तालु आदि से और जीव फिर अन्न से यह एक गोल चक्र बन जाता है उस] के अनुसार जो (मनुष्य) इस लोक में वर्ताव (अर्थात् अपने कर्तव्य का पालन) नहीं करता, वह पापमय जीवन वाला, इन्द्रिय लंपट व्यर्थ जीता है ।१६।

**१३६ यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्म तृप्तश्च मानवः ।**
**आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।१७।**

जो आत्मा से प्रेम करता है (विषयों से नहीं) (अन्य पदार्थों के पाने की जिसे लाल सा नहीं होती) आत्मा से ही तृप्त है ! और आत्मा में ही संतुष्ट रहता है उसे कुछ करना शेष नहीं रहता ।१७।

**१३७ नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।**
**न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थ व्यपाश्रयः ।१८।**

(जिसे आत्मज्ञान हो चुका है,) उसे इस संसार में न कर्म करने में कोई स्वार्थ है और न ही कर्म न करने में ही कोई स्वार्थ होता है, क्योंकि उसका तो सभी जीवों से व्यक्तिगत स्वार्थ रहता ही नहीं । १८ ।

---

१ तस्माद न्नात्पुनर्यज्ञः पुनरन्नं पुनः क्रतुः ।
एवमेतदनाद्यन्तं चक्रं सम्परिवर्तते । याज्ञ ८३।१२४।

१३८ तस्मादसक्तः सततं कार्यं-कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।१६।

इसलिये तू आसक्ति रहित हो (कर्मफल की आशा को छोड़) कर सदा कर्तव्य कर्मों को कर, क्योंकि आसक्ति रहित (निष्काम भाव से) कर्म करने वाला पुरुष मुक्ति प्राप्त कर लेता है। १६।

१३६ कर्मणैव हि संसिद्धि मास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तु मर्हसि ।२०।

जनकादियों ने (निष्काम) कर्म के द्वारा ही सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त की थी। लोक संग्रह का ध्यान करते हुए भी तुझे कर्म करने ही चाहिये ।२०।

१४० यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।२१।

श्रेष्ठ (माना हुआ) पुरुष जो २ कर्म करता है, वह २ कर्म ही दूसरे (साधारण) मनुष्य भी करते हैं, वह (प्रधान पुरुष) जिस बात को प्रमाण (ठीक) मान लेता है, लोग उसका अनुकरण करते है। २१।

१४१ न मे पार्थाऽस्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ।२२।

हे पार्थ ! मुझे तीनों लोकों में न तो कुछ कर्तव्य करना ही शेष रहा है और न ही जो वस्तु प्राप्त न हो, ऐसी कोई वस्तु ही प्राप्त करने को बाकी है। फिर भी मैं कर्म करता ही हूँ। २२।

१४२ यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।२३।

यदि मैं कदाचित आलस्य छोड़ कर कर्म में न लगा रहूं, तो हे पार्थ ! लोग सब प्रकार से मेरे ही मार्ग पर चलने लग जायँ (कर्म छोड़ दें) ।२३।

१४३ उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ।२४।

यदि मैं कर्म न करूं, तो (मेरा अनुकरण कर) ये सब लोक नष्ट भ्रष्ट होजायें । मैं वर्ण संकरता के करने वाला और इस प्रजा के नाश करने वाला बनूं ।२४।

१४४ सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षु लोंक संग्रहम् ।२५।

हे भारत ! कर्म में आसक्त (अहन्ता ममता से युक्त हो) अज्ञानी जिस प्रकार कर्म करते हैं । आसक्त (अहन्ता ममता) रहित विद्वान् भी लोक संग्रह (लोग भी कर्म में प्रवृत्त हों) करना चाहता हुआ कर्म करे । २६

१४५ न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ।२६।

विद्वान् पुरुष (स्वयं कर्म छोड़ कर) कर्म करने में लगे हुए अज्ञ (सीधे साधे) मनुष्य में बुद्धि भेद (कर्म के विषय में संदेह) उत्पन्न न करे, किन्तु युक्त (समत्व भाव से) कर्म करता हुआ उनसे सभी कर्म करावे ।२६।

१४६ प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
[1]अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।२७।

सभी कर्म प्रकृति के गुणों से किये हुए होने पर भी अहंकार (देहादि में आत्माभावना) से मोहको प्राप्त हुआ आत्मा, मैं कर्ता हूँ ऐसे मानता है ।२७

१४७ तत्त्ववित्तु महाबाहो ! गुणकर्म-विभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ।२८।

हे अर्जुन ! गुण विभाग (अन्तः करण के सात्विक, राजस, तामस भाव) और कर्म विभाग, (उनके कारण होने वाले क्रिया समुदाय इन दोनो का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं ये प्रकृति से सम्बन्ध रखते हैं, इस) के तत्त्व को जानने वाला, तो गुण (करण-ज्ञान-इन्द्रियां तथा कर्म-इन्द्रियां) गुणों (शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध) में वर्तते हैं, यह जान कर उनमें नहीं फंसता । २८ ।

१४८ प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मंदान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ।२९।

प्रकृति के गुणों से अत्यन्त्य मोहित हुए (मनुष्य) गुणों (के अर्थ भोगों) और कर्मों (उनकी प्राप्ति के साधनों) में आसक्त रहते हैं, उन पूरी तरह से न जानने वाले, अल्प बुद्धि मनुष्यों को पूर्ण रूप से जानने वाला, संदेह में न डाले ।२९।



१ कार्यकरण संघातात्म प्रत्ययः अहंकारः इति श्री शंकराचार्यः ।

१४९ मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्म चेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।३०।

आत्म ज्ञान (विवेक बुद्धि) से मुझ ([1]परमेश्वर) में सब कर्म समपर्ण कर के कर्म फल की आसक्ति और ( मेरा कर्म है यह) ममता छोड़ तथा शोक रहित होकर युद्ध कर।३०।

१५० ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ।३१।

जो दोष दृष्टि त्याग कर श्रद्धा से मेरे इस मत का अनुसरण करते हैं, वे भी कर्मों के बन्धनों से छूट जाते के हैं ।३१।

---

१ जब मनुष्य अपने लिये कर्म करने लगता है, तो उसके मन में यह विचार होता है कि मैं उसे ऐसे करूं; जिससे मेरी स्वार्थ सिद्धि हो; मुझे सुख और खुशी मिले । इससे दूसरों को हानि हो, तो हो; मुझे इससे क्या ?; पर जब वह अपने आप को ईश्वर का दास समझ कर उसी कर्म को ईश्वर के लिये करता है, तब वह यह सोचता है, इस विषय में ईश्वर क्या चाहते हैं । उन्हें क्या प्रिय है । जब मनुष्य में यह बुद्धि आती है, तब वह ससार का भला तो कर सकता है, पर बुराई फिर उससे नहीं होती । यह अपने लिये और ईश्वर के लिये कर्म करने में भेद है।

**१५१ ये त्वेतदभ्यसूयन्तो, [1]नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।**
**[2]सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ।३२।**

जो गुणों में दोष निकालते हुए मेरे इस मत का अनुसरण नहीं करते । सब प्रकार का ज्ञान पाकर भी उन मूढ, (पढ़े लिखे बेवकूफ) अविवेकियों का तो, पतन होगा, यही समझो ।३२।

**१५२ सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।**
**प्रकृतिं यान्ति भूतानि, निग्रहः किं करिष्यति ।३३।**

(अज्ञानी की तो बात ही क्या ? ) ज्ञानी भी ([3]जन्मजन्मान्तर के कर्मों के संस्कार से बने) अपने स्वभाव के अनुसार ही कर्म करता है। सभी प्राणी अपनी प्रकृति के अनुसार ही चलते हैं (उसमें किसी की) [4]रोक थाम क्या करेगी ? ।३३।

---

१ गुणेषु दोषारोपोऽसूया ।

२ कई लोग (जैसा कि गीता में कहा है "अहंकारविमूढात्मा" गी० ३।२७। अहंकार के कारण मूढ हो जाया करते हैं। कोई अर्जुन की तरह "धर्मसंमूढचेता:" गी० २।७। दो धर्मों की टक्कर होने से एक के करने पर दूसरे को हाथ से जाता देख धर्मसंमूढ हो जाते हैं और कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जिन्हें अनेक शास्त्रों का ज्ञान तो होता है, पर उनकी प्रकृति ही ऐसी बनी हुई होती है, कि वे उन शास्त्रों के अनुसार अपना आचरण नहीं बनाते, किन्तु उनके गुणों में दोष दिखलाने में ही सदा तत्पर रहते हैं। उन्हें ही यहां "सर्वज्ञान विमूढ" कहा गया है ।

१५३ इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।३४।

इन्द्रियों के विषय (जो शब्द, स्पर्श, रूपादि हैं) इनमें अपनी २ इन्द्रिय का राग द्वेष रहता ही है। उन (राग द्वेष) दोनों के वश में न होना चाहिये, क्योंकि वही इस जीव के (कल्याण मार्ग में बाधा डालने वाले) शत्रु हैं ।३४।

१५४ [5]श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।३५।

अच्छी प्रकार आचरण किए हुए पराये धर्म (कर्तव्य) से अपना गुणहीन धर्म (कर्तव्य) भी श्रेष्ठ होता है। अपने धर्म में (कर्तव्य के लिये) मर जाना कल्याण कारक है, पर दूसरे का धर्म तो [6]भय देने वाला ही होता है ।३५।

---

३ पूर्वकृत धर्मधर्मादि संस्कारो वर्तमान-जन्मादौ अभिव्यक्तः सा प्रकृतिः ।
श्री शंकराचार्यः ।

४ नदी के प्रवाह की भांन्ति, कर्म प्रवाह को बिलकुल रोका तो नहीं जा सकता, परन्तु उनमें अहंता ममता का सम्बन्ध न रखने से उसं प्रवाह को दूसरी ओर बदला जा सकता है ।

५ गीतामृत पृष्ठ xxxi देखें ।

६ वह भय क्या है, इसे मनु ने बतलाया है—
वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः ।
परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः । मनु १०।९७।

अर्जुन उवाच—

१५५ अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय ! बलादिव नियोजितः ।३६।

अर्जुन बोला—

हे (वृष्णिकुल में उत्पन्न) कृष्ण ! यह पुरुष न चाहता हुआ भी बलात्कार से लगाये हुए की भान्ति किस की प्रेरणा से पापकरता है ।३६।

श्रीभगवानुवाच

१५६ काम एष क्रोध एष रजोगुण-समुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ।३७।

भगवान ने कहा—

रजो गुण से उत्पन्न हुआ, बड़ा पेटू (कभी तृप्त न होने वाला) बड़ा भारी पापी (सभी अनर्थों का कारण) यह काम ही (अपनी पूर्ति में बाधा पाकर, बाधा के हेतु पर क्रोध के रूप में बदल जाने के कारण) यह क्रोध भी है, इसे ही, (इस विषय में तू अपना) शत्रु जान ।३७।

१५७ धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ।३८।

जैसे धूप से अग्नि ढक जाती है, मैल से शीशा ढक जाता है और झिल्ली से गर्भ वेष्टित रहता है, वैसे ही उस काम से यह (ज्ञान) ढका हुआ है ! ।३८।

१५८ आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्य वैरिणा।
काम-रूपेण कौन्तेय! दुष्पूरेणानलेन च ।३९।

हे अर्जुन! ज्ञानियों के सदा से वैरी, कठिनता से पूरा होने वाले तथा (पूरा न होने पर आग की तरह जलाने वाले) कामना रूपी अग्नि (अथवा कभी अलं (बस) न करने वाली वासना) से ज्ञान ढका हुआ है ।३९।

१५९ इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठान मुच्यते।
एतै र्विमोहयत्येष ज्ञान-मावृत्य देहिनम् ।४०।

इन्द्रियां मन और बुद्धि इस (काम) का निवास स्थान कहा है, इन सब से ज्ञान को ढक कर यह जीवात्मा को मोह में फंसा देता है।४०।

१६० तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ!।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञान-विज्ञान-नाशनम् ।४१।

इसलिये हे भारतश्रेष्ठ! पहले इन्द्रियों को वश में कर के ज्ञान (शास्त्र वा गुरु से प्राप्त बोध) और विज्ञान (उस प्राप्त ज्ञान का अनुभव) का नाश करने वाले इस पापी को मार डाल ।४१।

---

१ ज्ञानी हि जानाति अनेनाहं, अनर्थे प्रयुक्तः पूर्वम् एव इति दुःखी च भवति नित्यमेव, अतः असौ ज्ञानिनो नित्यवैरी, न तु मूर्खस्य। इति श्री शं०।

१६१ इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु [1]सः ।४२।

(स्थूल शरीर से) इन्द्रियों को ही श्रेष्ठ कहा है, इन इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है, मन से श्रेष्ठ बुद्धि है और जो बुद्धि से श्रेष्ठ है, वही आत्मा (क्षेत्रज्ञ) है ।४२।

१६२ एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।४३।

हे अर्जुन ! इस प्रकार बुद्धि से श्रेष्ठ (शक्ति शाली) आत्मा को जानकर बुद्धि द्वारा मन को वश में करके तू काम रूप दुर्जय शत्रु को मार दे ।४३।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु, ब्रह्मविद्यायां योग-शास्त्रे
श्री कृष्णार्जुन संवादे कर्म योगो नाम

॥ [2]तृतीयोऽध्यायः ॥

---

१ सः: कामः इति श्रीरामानुजाचार्यः। सः:परमात्मा इति श्री शंकराचार्य ।

२ इस अध्याय में अर्जुन ने ३ और श्रीकृष्ण ने ४० श्लोक कहे हैं। और आरम्भ से यहां तक कुल १६२ श्लोक हुए हैं।
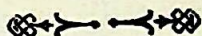
## अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥३॥

श्रीभगवानुवाच —

**१६३ इमं विवस्वते योगं [1]प्रोक्तवानहमव्ययम्[2]।**
**विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।१।**

श्री भगवान् बोले—

इस सदा एक सा रहने वाले योग को पहले (मन्वन्तर के आदि में) मैंने सूर्य से कहा, सूर्य ने (अपने पुत्र) मनु से और मनु ने (अपने बेटे) इक्ष्वाकु से कहा था ।१।

**१६४ एवं परम्परा-प्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।**
**स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ।२।**

इस प्रकार परंपरा से प्राप्त हुए इस योग को राजर्षियों ने (राजा होने पर भी जो ऋषि थे ) जाना था । परन्तु हे शत्रु पीडक (अर्जुन !) अब बहुत काल से इस संसार के लोग इसे भूल गये थे ।५।

---

१ गीतामृत पृ० xxxi देखें ।

२ अव्ययं—अव्ययफलत्वात् । न हि अस्य सम्यग्दर्शन-निष्ठा-लक्षणस्य मोक्षाख्यं फलं व्येति । इति श्री शंकराचार्यः ।

२—अथवा देश और काल के कारण जिसमें कोई कमी नहीं आती अर्थात् समस्त देशों के लिये सभी कालों में जो एक सा उपयुक्त है, उसे अव्यय कहते हैं ।

१६५ स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ।३।

यह वही पुराना योग आज मैंने तुम्हें कहा है, क्योंकि तू मेरा भक्त तथा प्राणप्रिय मित्र है और यह योग भी निश्चय ही एक उत्तम रहस्य है ।३।

अर्जुन उवाच—

१६६ अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ।४।

अर्जुन ने कहा—
आपका जन्म तो अब हुआ और विवस्वत का बहुत पहले, फिर मैं यह कैसे जानूं ? कि तुमने ही पहले ( उस यह योग ) कहा है ।४।

श्रीभगवानुवाच —

१६७ बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ।५।

श्रीभगवान् बोले—
हे अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत से जन्म बीत चुके हैं । मैं उन सभी को जानता हूं, परन्तु हे परंतप ! तू नहीं जानता ।५।

१६८ अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ।६।

मैं जन्म रहित तथा अविनाशी स्वरूप होते हुए और भूतों (चराचर) का अधिपति होते हुए भी अपनी (त्रिगुणात्मिका) प्रकृति को वश में करके अपनी लीला (अथवा संकल्प शक्ति) से जन्म लेता हूं ।६।

१६९ यदा यदा हि [1]धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ।७।

हे भारत! जब २ धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब २ मैं अपने आपको उत्पन्न करता हूं ।७।

१७० परित्राणाय [1]साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।८।

भले पुरुषों की रक्षा के लिये और पाप कर्म करने वालों के नाश के वास्ते तथा धर्म की सुव्यवस्था के लिये मैं युगयुग में जन्म लेता हूं ।८।

१७१ जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ।९।

हे अर्जुन मेरे दिव्य जन्म [2]तथा [3]दिव्य कर्मों को जो ठीक २ समझ जाता है, वह मरने के बाद फिर जन्म नहीं लेता, किन्तु मुझ में मिल जाता है ।९।

---

१ गीतामृत पृ० xxxii देखें ।

## ६ वें श्लोक की टिप्पणी

२ एक जन्म माता देती है। वह पार्थिव शरीर का जन्म है। इस शरीर से मनुष्य भला भी होता है और बुरा भी। दूसरा जन्म संस्कार द्वारा आचार्य देता है, इसमें मनुष्य के मन और बुद्धि को सुधारा जाता है। शास्त्र कहते हैं (तत्रास्य माता सावित्री। मनु २।१७०) इस जन्म में उसकी माता सावित्री होती है। मनु ने इसे दूसरा जन्म कहा है (द्वितीयं मौञ्जिबन्धने मनु। २।१६९। ) इससे मनुष्य द्विजन्मा कहलाता है। पर यह जन्म तभी जानना चाहिये, जब मनुष्य का मन और बुद्धि पूर्ण रूप से सुधर जायें, क्योंकि सावित्री (गायत्री) मन्त्र में बुद्धि के सुधारने ही की प्रार्थना की गई है। अतः जब तक बुद्धि का सुधार न हो, तब तक समझना चाहिये, कि इसे अभी पूर्णतया द्विजत्व की प्राप्ति नहीं हुई।

तीसरा जन्म मनु ने (तृतीयं यज्ञदीक्षायां। मनु २।१६९।) कह कर बतलाया है। पहिले दो जन्मों में आत्मा का प्रकृति के साथ सम्बन्ध रहता है। तीसरे में यजमान अहंता ममता रहित होकर ( इदं न मम ) कहता हुआ यज्ञ (परोपकार) के लिये तटस्थ होकर काम करता है, पर एक अवस्था ऐसी है, जहां आत्मा की शक्ति के स्थान पर परमात्मा की शक्ति काम करने लगती है, उसी का नाम है, दिव्य जन्म। भाव यह कि *

१७२ वीतराग-भय-क्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ।१०।

मेरा ही ध्यान करते हुए (अथवा मेरे गुणों को अपने में धारण करने से जो) मेरा रूप हो गये हैं, जिन्होंने मेरा आश्रय लिया है जिसके राग भय और क्रोध मिट चुके हैं, ऐसे बहुत से लोग ज्ञान रूपी तप से पवित्र हुए मुझ में समा गये (मोक्ष पा गये) हैं ।१०।

---

*शरीर में आत्मा और परमात्मा होते तो दोनों ही हैं, पर शरीर आत्मा की सत्ता से सब कार्य करता है, परन्तु जिस शरीर में आत्मा की शक्ति के स्थान पर परमात्मा की शक्ति काम करने लग जाती है, वही अवतार कहलाता है और उस शरीर में परमात्मा की शक्ति के प्रकट होने का नाम ही दिव्य जन्म है ।

२ दिव्य कर्म—मनुष्य स्वार्थ के लिये प्रकृति के आधीन होकर कर्म करता है, इसलिये वे बन्धन का कारण हैं, परन्तु अवतार प्रकृति का दास नहीं, स्वामी होता है । अपने स्वार्थ के लिये उसका कोई कर्म नहीं होता । उसके सभी कर्म धर्मरक्षा के उद्देश्य से होते, इसी लिये वे कर्म बन्धन का कारण नहीं होते । (न मां कर्माणि लिम्पन्ति ।गी० ।४।१४।)अतः वेकर्म जो प्रकृति के अधिपति द्वारा किये जाते हैं, वे दिव्य कर्म कहलाते हैं ।

१७३ ये [1]यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुषाः पार्थ सर्वशः ।११।

हे अर्जुन! जो जिस प्रकार (कर्म, भक्ति वा ज्ञान से) मेरी शरण में आते हैं। मैं उन्हें उसी तरह ग्रहण (अनुग्रह) करता हूं। (क्योंकि) सभी प्रकार से ये लोग मेरे मार्ग पर चलते हैं (अर्थात् मेरी प्राप्ति के लिये ही) प्रयत्न करते हैं।११।

१७४ कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह [2]देवताः।
[3]क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।१२।

कर्मों की सिद्धि चाहने वाले इस लोक में देवताओं की पूजा करते हैं और इस लोक में कर्मों से सिद्धि भी शीघ्र ही प्राप्त होती है।१२।

---

१ उपासना पक्ष के विद्वान् यह अर्थ भी करते हैं, जो मनुष्य जिस प्रकार से मेरे रूप की कल्पना कर उपासना करते हैं, मैं उसी रूप में उन्हें दर्शन देता हूं। रा० सं०।

२ अथ योऽन्यां देवता मुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद, यथा पशु रेवं स देवानाम् बृ० ३१।४।१०। अतः सभी देवों को भगवान् रूप ही समझना चाहिये।

३ अनेक मार्गों से लोग क्यों जाते हैं, इस श्लोक में इस का उत्तर दिया कि इस प्रकार उन्हें शीघ्र सिद्धि मिलती है।

१७५ चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्य कर्तारमव्ययम् ।१३।

मैं (ईश्वर) ने चारों वर्ण गुण-कर्म के भेद से उत्पन्न किये हैं । उनके कर्त्ता मुझको भी, तू अविनाशी और [1]अकर्त्ता ही जान ।१३।

१७६ न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ।१४।

मुझ पर कर्मों का लेप (अच्छा बुरा असर) नहीं होता (क्योंकि) मुझे कर्मों के फल की इच्छा नहीं । इस प्रकार मुझे (मेरी इस निष्काम कर्म फिलासफी को) जो भली प्रकार जान लेता है । वह भी (निष्काम कर्म करने से) कर्मों के बन्धन को प्राप्त नहीं होता ।१४।

१७७ एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ।१५।

यही जान कर पहले मुक्ति चाहने वालों (जनकादियों) ने भी कर्म किये हैं । अतः पहले लोगों ने जिस प्रकार अति प्राचीन काल में कर्म किये हैं । वैसे तू भी कर्म कर ।१५।

---

१ कर्म करने से कर्ता की कुछ न कुछ शक्ति व्यय होती और उस कर्म से कर्त्ता को कुछ अच्छा बुरा फल भी मिलता है, परन्तु मेरी तो बात ही दूसरी है । कर्म करने से न तो मेरी शक्ति का ह्रास न ही होता है, इसलिये मैं अव्यय हूं और न ही कर्म का फल मुझे मिलता है, इसलिये मैं कर्त्ता होता हुआ भी, अकर्त्ता ही हूं ।

१७८ किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।१६।

कर्म क्या ? और अकर्म क्या है, इस विषय में ज्ञानी लोग भी भ्रम में पड़ जाते हैं । इसलिये मैं तुझे कर्म के विषय में बतलाऊंगा । जिसे जान कर तू बुराई से बच जायेगा ।१६।

१७६ [1]कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ।१७।

कर्म को जानना चाहिये और विकर्म को भी जानना चाहिये तथा अकर्म के तत्व को भी समझ लेना चाहिये (क्योंकि) कर्म का तत्व बहुत सूक्ष्म है ।१७।

---

१ कर्म—फलाभिसन्धि रहितं भगवदाराधन रूपं कर्म । विकर्म—नित्य नैमित्तिक-काम्य-कर्म-रूपणे-तत्साधन-द्रव्यार्जनाद्याकारणे च, विविधताम् आपन्न-कर्म, विकर्म । अकर्म—इति ज्ञानम्, आत्मनो याथात्म्य ज्ञानम् उच्यते । श्री रामानुजाचार्यः ।

१ कर्मणः शास्त्र विहितस्य । विकर्मणः प्रतिषिद्धस्य । अकर्मणः तूष्णीं भावस्य ।इति श्री शंकराचार्यः ।

१ तू शरीर से होने वाली क्रियाओं को कर्म समझता है और उनके रोकने या त्याग को अकर्म, परन्तु बात ऐसी नहीं है, क्योंकि कर्म क्या

## १७ वें श्लोक की टिप्पणी

है, इसमें बड़े बड़ों को भी भ्रम हो जाया करता है। कारण यह कि कर्ता के भावानुसार कोई विकर्म भी कर्म हो जाता है और कोई कर्म भी विकर्म, तथा किसी कर्म वा विकर्म को अकर्म भी बनाया जा सकता है।

इसी बात को और स्पष्ट करने के लिये देखें शास्त्र ने जिस व्यापार का फल लोक या परलोक में सुख हो उसे कर्म नाम दिया है। और जिस व्यापार का फल लोक या परलोक में दुःख हो उसे विकर्म कहा है, तथा जो कर्म या कर्म त्याग किसी फल की उत्पत्ति का कारण न हो, उसका नाम अकर्म रखा है। ये कर्म, विकर्म और अकर्म तीनों कर्त्ता के भावानुसार एक दूसरे में कैसे परस्पर बदल जाते हैं, उसे भी देखिये -

कर्म-अकर्म और विकर्म दोनों ही हो सकता है, जैसे फलासक्ति रहित, ईश्वरार्पण कर्म "मोक्ष्यसे कर्म बन्धनैः (गी० ९।२८)। फलोत्पादक न होने से कर्म अकर्म हो गया और वही कर्म अपात्र को दान देने के रूप में किया हुआ "अपात्रेष्वपि यद्दत्तं दहत्यासप्तमं कुलम्"। अत्रि ।१४१। तथा यथाप्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन्।
तथा निमज्जतोऽधस्तदज्ञौ दातृ प्रतीच्छकौ। मनुः ।४।१९४। अनिष्टोत्पादक होने से विकर्म हो गया॥

विकर्म—कर्म भी हो जाता है, और अकर्म भी जैसे मनुष्यवध रूप विकर्म भी युद्ध में स्वर्ग का साधन होने से तो कर्म होता जाता है देखो गी० २।३७। तथा वही युद्ध फला सक्ति छोड़ कर्तव्य बुद्धि से किया हुआ कर्म बन्धन का हेतु न होनें से अकर्म हो जाता है (गी० ३।३० तथा गी० २।३८। देखें।)

१८० [1]कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्न-कर्मकृत् ।१८।

जो कर्म में अकर्म (अर्थात् फलासक्ति छोड़ कर्म को अकर्म बना लेता है ) और अकर्म में कर्म को देखता है (अर्थात् चुप बैठना रूप कर्म त्याग को अकर्म नहीं, किन्तु चुप बैठना भी एक कर्म ही है, ऐसा समझता है) वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वही योगी है और वही संपूर्ण कर्मों को भली प्रकार करने वाला है ।१८।

१८१ यस्य सर्वे समारम्भाः काम-संकल्प-वर्जिताः ।
[2]ज्ञानाग्निदग्ध-कर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ।१६।

जिसके सभी आरम्भ किये कर्म कामना और (उसके कारण रूप) संकल्प से रहित हैं । उस ज्ञान रूपी [2]अग्नि में दग्ध हुए कर्मों वाले (पुरुष को) बुद्धिमान् लोग पण्डित कहते हैं ।१६।

---

१ गीतामृत पृ० xxxii देखें ।

२ जैसे अग्नि में दग्ध बीज देखने में बीज प्रतीत होते हुए भी अङ्कुरोत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते । ठीक इसी प्रकार निष्काम भाव से किए कर्म दिखने में कर्म होते हुए भी फलोत्पन्न नहीं कर सकते । इसी सादृश्य से निष्काम भाव के तत्त्व ज्ञान को अग्नि और फलोत्पादन शक्ति से शून्य होने को कर्मों का दग्ध होना कहा है ।

१८२ त्यक्त्वा कर्मफलासंग नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ।२०।

कर्मों के फल की आसक्ति को छोड कर जो सदा तृप्त है, (अर्थात् किसी भी वस्तु की प्राप्ति की लालसा नहीं करता) और जो (अपने सुख के लिये दूसरे व्यक्ति वा पदार्थ का) आश्रय नहीं ढूंढता है। वह कर्म करने में लगाहुआ भी (वास्तव में) कुछ नहीं करता (क्योंकि उन कर्मों का उसपर कोई प्रभाव नहीं वह कर्म भी उसके लिये अकर्म हो जाया करते हैं) ।२०

१८३ निराशीर्यत-चित्तात्मा त्यक्त सर्व-परिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ।२१।

जिसने आशा (वासना) का परित्याग कर दिया है और अपने अन्तः करण को वश में कर लिया है तथा समस्त भोग्य पदार्थों का संग्रह करना छोड दिया है। वह केवल शरीर निर्वाह के लिये कर्म करता हुआ पाप का भागी नहीं होता ।२१।

१८४ यदृच्छा-लाभ-संतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ।२२।

जितना सहज से मिल जाय, उसी में जो संतुष्ट रहता है, हानि लाभ आदि द्वन्द्वों का जिस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जो किसी से ईर्षा द्वेष नहीं करता और सफलता वा असफलता में एक समान रहता है वह पुरुष कर्म करने पर भी (उनसे) बन्धन में नहीं पड़ता ।२२।

१८५ गतसंगस्य मुक्तस्य, ज्ञानावस्थित-चेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म, समग्रं प्रविलीयते ।२३।

आसक्ति रहित, देहाभिमान शून्य और परमात्मा के ज्ञान में मग्न, यज्ञ (परमार्थ) के लिये कर्म करने वाले पुरुष के सभी कर्म विलीन हो जाते हैं। अर्थात् वे कर्म अकर्म रूप हो जाते हैं २३।

१८६ ब्रह्मार्पणं [1] ब्रह्म हवि र्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं, ब्रह्म-कर्म-समाधिना ।२४।

अर्पण की क्रिया ब्रह्म है। हवन करने की सामग्रि ब्रह्म है। ब्रह्म रूप अग्नि में ब्रह्म ने हवन किया। इस तरह कर्म के साथ जिसने ब्रह्म का मेल साधा है, अर्थात् जिसके विचार में सभी कर्म ब्रह्म हैं, वह ब्रह्म रूप फल को ही प्राप्त होता है।२४।

---

१ येन करणेन ब्रह्मविद् हविः अग्नौ अर्पयति, तद् ब्रह्म एव इति पश्यति। तस्य आत्म व्यतिरेकेण अभावं पश्यति। यथा शुक्तिकायां रजताभावं पश्यति। तद् उच्यते, ब्रह्म एव अर्पण मिति। यथा यद् रजतं तत् शुक्तिका एव इ त। यद् अर्पणबुद्ध्या गृह्यते लोके तद् अस्य ब्रह्म विदो ब्रह्म एव इत्यर्थः एवं सति निवृत्त कर्मणः अपि सर्व कर्म संन्यासिनः सम्यग्दर्शन स्तुत्यर्थं यज्ञत्व संपादनं ज्ञानस्य सुतराम् उपपद्यते,। यत् अर्पणादि आधि यज्ञे प्रसिद्धं, तत् अस्य अध्यात्मं ब्रह्म एव परमार्थ दर्शिनः इति। श्री शंकराचार्यः।

१ गीतामृत पृ० xxxii देखें।

१८७ दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ।२५।

कई कर्म योगी, दैव यज्ञ (अर्थात् [1]अग्नि, वायु, सूर्यादि वैदिक देवों का यजन अथवा विष्णु, शिवादि अर्वाचीन देवों की उपासना) करते हैं और दूसरे कई ब्रह्म रूप अग्नि में यज्ञ (आत्मा) से [2]यज्ञ (आत्मा) का हवन कर देते हैं ।२५।

---

१ "अग्निर्देवता, वायुर्देवता, सूर्योदेवता" यजु १४।२०।

२ शतपथ ब्राह्मण १३।४।३।१। में स्वयंभू के आत्म यज्ञ का वर्णन है, जिस का आशय यह है, कि उसने प्राणी मात्र की भलाई के लिये आत्म समर्पण किया । इसलिये वह बड़ा बन गया। ऋग्यजु और अथर्व तीनों में ("यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः" यजु ३१।१६ ) देवों का आत्मा के द्वारा आत्मा के हवन का वर्णन है। जिसका भाव यह है, कि मनुष्यमात्र के कल्याण के लिये जीवन लगाते हुए, मैं दूसरों के लिये कुछ करता हूं इस आत्म अभिमान को भी मन में न आने देना, यही आत्मा से आत्मा का यजन है ।

२ श्री शंकराचार्य इस पर यह लिखते हैं—उपाधियुक्त आत्मा को उपाधि रहित परब्रह्म रूप से साक्षात् करना, वही उसमें हवन करना है । यथा सोपधिकस्य आत्मनो निरुपाधिकेन परब्रह्मस्वरूपेण एव यत् दर्शनं तदस्मिन् होमः। इति श्री शंकराचार्यः ।

१८८ श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ।२६।

दूसरे लोग श्रोत्रादि इन्द्रियों का संयम रूपाग्नि में हवन करते हैं (अर्थात् इन्द्रियों को वश में करते हैं) और कई लोग शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध इन विषयों को इन्द्रिय रूप अग्नि में हवन करते हैं, (भाव यह कि शब्दादि विषय केवल इन्द्रियों तक ही रह जाते हैं, उन विषयों का सेवन करते मन या अन्य इन्द्रियों में किसी प्रकार का विकार नहीं आने देते) ।२६।

१८९ सर्वाणीन्द्रिय-कर्माणि प्राण-कर्माणि चापरे ।
आत्म-संयम-योगाग्नौ जुह्वति ज्ञान-दीपिते ।२७।

इन्द्रियों के सभी कर्मों तथा प्राणों की समस्त क्रिया को ज्ञान से प्रकाशित आत्मा संयम रूप अग्नि में हवन करते हैं। (अर्थात् समाधि अवस्था में स्थित होते हैं) ।२७।

१९० द्रव्य-यज्ञास्तपो यज्ञा योग-यज्ञास्तथा-परे ।
स्वाध्याय-ज्ञान-यज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ।२८।

दृढव्रतधारी प्रयत्न शील लोग (अपनी २ भावना के अनुसार) कई परोपकार के लिये धन-धान्य का दान रूप यज्ञ करते हैं। अथवा हवन करते हैं। दूसरे व्रत उपवास आदि तप करते हैं। अथवा [1] स्ववर्ण धर्म रूप तप करते हैं, कई अष्टाङ्ग योग करते और कई लोग ऐसे ग्रन्थों का पाठ करते हैं, जिनमें ईश्वर की स्तुति है और कुछ लोग ऐसी पुस्तकें पढ़ते हैं. जिनमें से ज्ञान प्राप्त होता है ।२८।

---

१ ब्राह्मस्य तपो ज्ञानं, तपः क्षत्रस्य रक्षणम् ।
वैश्यस्य तु तपो वार्ता, तपः शूद्रस्य सेवनम् ।मनु० ११।२३५।

१६१ अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती-रुद्ध्वा प्राणायाम-परायणाः ।२६।

प्राणायाम में तत्पर दूसरे योगी लोग अपान (नासिका वा मुख द्वारा बाहिर से शरीर के अन्दर जाने वाली वायु) और प्राण ( नासिका वा मुख द्वारा शरीर के अन्दर से बाहिर निकलने वाली वायु) इन दोनों की गति को रोक (अर्थात् कुम्भक प्राणायाम ) कर अपान वायु (प्रश्वास) में प्राण वायु (श्वास) को और प्राण वायु (श्वास) में अपान वायु का हवन करते हैं। अर्थात मिला देते हैं। अथवा कोई अपान में प्राण का हवन पूरक नाम का प्राणायाम और प्राण में आपान का हवन रेचक प्राणायाम तथा प्राण अपान दोनों की गति को रोक कर कुम्भक प्राणायाम करते हैं ।२६।

१६२ [1]अपरे नियताहाराः [2]प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञ-क्षपित-कल्मषाः ।३०।

दूसरे योगी आहार को नियमितकर प्राण के और भेदों को प्राणों में हवन (लय) करते हैं। ये सभी यज्ञ के सिद्धान्त को जानने वाले यज्ञ द्वारा निष्पाप होते हैं ।३०।

---

१ गीतामृत पृ० xxxii देखें

२ प्राणान् वायुभेदान् प्राणेषु जुह्वति। इति शं०।

१६३ [1]यज्ञ-शिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म-सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ! ।३१।

(उपर्युक्त यज्ञों से बचा द्रव्य वा समय अमृत है) उस यज्ञ के बचे हुए अमृत का उपभोग करने वाले सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। हे कुरुश्रेष्ठ! जो यज्ञ नहीं करता, उसका तो यही लोक नहीं सुधरता, फिर उसके परलोक का सुधार कहां हो सकता है? ।३१।

१६४ एवं बहुविधा यज्ञा वितता [2]ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यते।३२।

इस प्रकार बहुत से यज्ञों का वेद में वर्णन किया है। तू यह समझ ले कि ये सभी कर्म से हुआ करते हैं। इस तरह जानने से तू कर्म बन्धन से मुक्त हो जायगा ।३२।

१६५ श्रेयान् द्रव्य-मयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ! ।
सर्वं-कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते ।३३।

हे परंतप अर्जुन ! द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञान यज्ञ अधिक कल्याण करने वाला होता है। (क्योंकि) पार्थ ! सभी कर्मों का ज्ञान में ही पर्यावसान है ।३३।

---

१ गीतामृत पृष्ठ xxxii देखें।

२ ब्रह्मणो वेदस्य मुखे द्वारे (वेद द्वारेण अवगम्यमाना। इति शं०)

१६६ तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं, ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।३४।

नम्रता से, (वा दण्डवत् करके) प्रश्न करने से और सेवा करके इसे तू जान ! तत्व को जानने वाले ज्ञानी तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे ।३४।

१६७ यज्ज्ञात्वा न [1]पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ! ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ।३५।

हे पाण्डव! जिसे जान कर तुझे फिर इस प्रकार का मोह (अज्ञान) नहीं होगा । जिससे जीवों को तू अपने में और मुझमें देखेगा (अर्थात् ज्ञान हो जाने पर तू समस्त विश्व को अपने आपको और मुझको एक ही आत्मा के अनेक रूप समझेगा) ।३५।

१६८ अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ।३६।

यदि तू पाप करने वाले सभी पापियों से भी अधिक पाप करने वाला है, तो भी ज्ञान रूप नौका से समस्त पाप समुद्र को पार कर लेगा ।३६।

---

१ यद् ज्ञानं ज्ञात्वा पुनः एवं देहाद्यात्मभिमान रूपं तत्कृतं ममताद्यास्पदं च मोहं न यास्यति ।इति। रा०।

१६६ यथैधांसि समिद्धोऽग्नि भेस्मसात्कुरुतेऽर्जुन!।
ज्ञानाग्निः सर्व-कर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।३७।

हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है। वैसे ही ज्ञान रूप अग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है।३७।

२०० न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योग-संसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ३८॥

इस संसार में ज्ञान के समान (दूसरी कोई वस्तु) पवित्र नहीं है। और जिसका (समत्व) योग सिद्ध होगया है, वह उसे कुछ काल में अपने आप में आप ही पा लेता है।३८।

२०१ श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधि-गच्छति।३६।

श्रद्धालु, ज्ञान की लग्नवाला संयमी पुरुष ज्ञान को प्राप्त करता है। और ज्ञान के प्राप्त होने से उसे परम शान्ति मिलती हैं।३६।

२०२ अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।४०।

जिसे ज्ञान नहीं श्रद्धा नहीं, और संशय में पड़ा रहता है, वह नष्ट हो जाता है, संशयशील का न यह लोक न परलोक है और न ही उसे सुख मिलता है।४०।

**२०३ योग-संन्यस्त-कर्माणं ज्ञान-संछिन्न-संशयम्।**
**आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।४१।**

हे धनंजय (अर्जुन) जिसने (समत्व) योग द्वारा कर्मों का संन्यास (कर्मफल त्याग) कर दिया है और ज्ञान से संशय को काट डाला है। ऐसे आत्मिक बलवाले पुरुष को कर्म नहीं बान्धते ।४१।

**२०४ तस्मादज्ञान-संभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।**
**छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ! ।४२।**

इसलिये हे अर्जुन ! अज्ञान से उत्पन्न हुए हृदय के इस संशय को (कि भीष्मादियों से लडूं या न लडूं ) ज्ञान रूपी तलवार से काट कर समत्व योग का आश्रय ले और युद्ध के लिये उठ खड़ा हो ।४२

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु, ब्रह्मविद्यायां योग-शास्त्रे श्री कृष्णार्जुन संवादे ज्ञान कर्म संन्यास योगो नाम

॥ [1]चतुर्थोऽध्यायः ॥

---

१ इस अध्याय में अर्जुन ने १ और श्रीकृष्ण ने ४१ श्लोक कहे हैं। और आरम्भ से यहां तक कुल २०४ श्लोक हुए हैं।

# अथ पंचमोऽध्यायः ॥५॥

अर्जुन उवाच—

२०५ संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ।१।

अर्जुन ने कहा —

हे कृष्ण ! तुम (कभी) कर्मों के संन्यास और फिर (कभी) कर्म योग की प्रशंसा करते हो, (वे दोनों एक साथ कैसे किये जा सकते हैं, अतः) उन दोनों में से जो एक निश्चित रूप से कल्याण कारक हो, वह मुझे कहिये ।१

श्रीभगवानुवाच —

२०६ संन्यासः कर्म-योगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्म-संन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ।२।

श्री भगवान् बोले—

संन्यास और कर्मयोग दोनों ही कल्याण कारक हैं, परन्तु उन दोनों में भी कर्म संन्यास से कर्म योग श्रेष्ठ है (विशेष कल्याण कारक है,) ।२।

२०७ ज्ञेयः स नित्य-संन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो ! सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ।३।

हे महा बाहु अर्जुन ! जो न (किसी से) द्वेष करता है और न (ही किसी वस्तु की) अभिलाषा रखता है, उसे सदा संन्यासी ही समझना चाहिये, वह (सुख दुःखादि) द्वन्द्वों से रहित सहज ही बन्धन से छूट जाता है ।३।

२०८ सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ।४।

अज्ञानी (बेसमझ) लोग (ही) सांख्य (ज्ञान) और (समत्व) योग को अलग अलग (फल देने वाला) कहते हैं, ज्ञानी नहीं। क्योंकि (इन दोनों में से) किसी एक का भी भली भान्ति अनुष्ठान करने वाला दोनों का [1]फल पा लेता है ।४।

२०९ यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।५।

जिस स्थान (मोक्ष) को सांख्य (ज्ञानी) प्राप्त करते हैं, वही (मोक्ष) कर्म योगियों को भी मिलता है। अतः सांख्य और योग को (फल एक होने से) जो एक देखता (समझता है) (वही वास्तव में) देखता अर्थात् समझता है ।५

२१० संन्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ।६।

हे महा बाहु अर्जुन ! कर्मयोग (समत्व बुद्धि) के विना संन्यास (त्याग की भावना) प्राप्त होना तो कठिन है, परन्तु कर्म योगी (समत्व बुद्धि वालों) को ब्रह्म प्राप्ति में देर नहीं लगती ।६।

---

१ कर्मयोगो ज्ञान योगमेव साधयति, ज्ञान योगस्तु एक आत्मावलोकनं साधयति इति तयोः फल भेदेन पृथक्त्वं वदन्तो न पण्डिता इत्यर्थः इति रा० ।

२११ योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्म-भूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।७।

पवित्र अन्तः करण वाला, जिसने अपने आपको जीता हुआ है और इन्द्रियों को वश में किया हुआ है तथा जो सब भूतों की आत्मा को अपनी आत्मा समझता है, ऐसा कर्म योगी (कर्म) करता हुआ भो उन कर्मों के बन्धन में नहीं पड़ता ।७।

२१२ नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्।

२१३ प्रलपन्विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।९।

तत्व को जानने वाला कर्म योगी---[1]देखते, सुनते, छूते, सूंघते, खाते, चलते, सोते सांस लेते ।८। बोलते, छोडते, लेते, पलक खोलते, और मीचते समय यह अनुभव करे कि इन्द्रियां अपने अपने विषयों में स्वयं बरत रही हैं, मैं कुछ भी नहीं करता हूं ।९।

---

१ शरीर रक्षा के लिये अपने आप सांसचलती तथा पलकें खुलती और बन्द होती हैं। उनमें मैं करता हूं प्रायः सर्व साधारण को भी यह विचार नहीं होता। इसी दृष्टान्त से देखना, सुनना, छूना, सूंघना, खाना ये पांच ज्ञान इन्द्रियों की और चलना, बोलना, छोडना, लेना ये कर्म इन्द्रियों की तथा सोचना यह मन की क्रिया में ज्ञानी को यह अभिमान नहीं होता कि मैं करता हूं।

२१४ [1]ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन, पद्मपत्रमिवाम्भसा ।१०।

जो (पुरुष) कर्मों को ईश्वरार्पण करके आसक्ति छोड़ कर वर्तता है, वह पाप से लिप्त नहीं होता। जैसे कमल का पत्ता पानी में रहकर भी पानी से लिप्त नहीं होता ।१०।

२१५ कायेन मनसा बुद्ध्या, [2]केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति, सङ्गं त्यक्त्वात्म-शुद्धये ।११।

कर्म योगी लोग आसक्ति छोड कर शरीर, मन, बुद्धि, और केवल इन्द्रियों से अन्तः करण की शुद्धि के लिये कर्म करते हैं ।११।

२१६ [3]युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः काम-कारेण फले सक्तो निबध्यते ।१२।

(कर्म योगी) कर्मों के फल की इच्छा छोड़ कर परम शान्ति को पाता है, परन्तु अस्थिरचित्त सकाम पुरुष कामना की प्रेरणा से फल में आसक्त होने से कर्म के वन्धन में बन्धता है ।१२।

---

१ ब्रह्मणि ईश्वरे इति ।शं०। ब्रह्म शब्देन प्रकृतिः इह उच्यते इति० रा० ।

२ केवलैः ममत्व वर्जितैः । इति श्री शंकराचार्यः ।

३ युक्तः आत्मव्यतिरिक्त फलेपु अचपलः । रा० ।

२१७ सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे [1]देही नैव कुर्वन्न कारयन् ।१३।

वृत्तियों को वश में रखने वाला देह का स्वामी (आत्मा) सब कर्मों का मन से त्याग कर न कुछ करता और न करता हुआ (अर्थात् अपने को करने कराने वाला न मान कर) नौ द्वारों वाले (शरीर रूप नगर में सुख से रहता है ।१३।

२१८ न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य [2]सृजति प्रभुः ।
न कर्मफल-संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ।१४।

आत्मा लोगों के कर्त्तापन, कर्मों तथा कर्मों के फल में संयोग को नहीं बनाता, किन्तु स्वाभाव ही कर्तृत्वादि में प्रवृत्त होता है, अर्थात् सब स्वभाव से ही हो रहा है ।१४।

२१९ नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।१५।

आत्मा किसी के पाप या पुण्य को नहीं लेता, किन्तु अज्ञान से ज्ञान ढका हुआ है, इसलिये जीव मोह को प्राप्त होते हैं ।१५।

---

१ न हि देह मात्रात्म दर्शिना गेहे इव देहे आसे इति प्रत्ययः संभवति । देहादि संघात व्यतिरिक्तात्मदर्शिनःतु देहे आसे इति प्रत्यय उपपद्यते इति शं

२ गीतामृत पृ० xxxiii देखें

२२० ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ।१६।

परन्तु जिनका वह अज्ञान आत्म के ज्ञान से नष्ट हो गया है, उनका ज्ञान सूर्य के समान उस परमार्थ तत्व को प्रकाशित कर देता है ।१६।

२२१ तद्‌बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठा स्तत्परायणाः।
गच्छन्त्य-पुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।१७।

जिनकी बुद्ध उस परमात्मा में स्थित हैं, उसे ही जो अपना आत्मा समझते हैं, तथा उसमें जिनकी दृढभावना है और उसी में जो रत हैं ऐसे लोग ज्ञान से जिनके पाप दूर हो गये हैं, वे जन्म मरण के झंझट से छूट जाते हैं अर्थात् मोक्ष पाते हैं ।१७।

२२२ विद्या-विनय-सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।१८।

[1]विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण, गाय. हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में पण्डित लोग सम भाव से (ब्रह्मभाव से) देखते हैं ।१८।

---

१ गीतामृत पृ० xxxiii देखें ।

२२३ इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ।१९।

जिनका मन समत्व भाव में स्थित है, उन्होंने इसी जीवन में संसार को जीत लिया है (अर्थात् वे जीवन मुक्त हो गये हैं, उन्हें मुक्त होने के लिये फिर जन्म लेने की आवश्यता नहीं रहती) निश्चय ही ब्रह्म निर्दोष और सम है, इसलिये वे (समदर्शी) ब्रह्म में स्थित हैं, अर्थात् ब्रह्म रूप होते हैं ।१९।

२२४ न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।

स्थिरबुद्धिर-संमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ।२०।

प्रिय वस्तु को प्राप्त कर प्रसन्न न हो, और अप्रिय वस्तु को प्राप्त कर दुःखी न हो (ऐसे) स्थिर बुद्धि कभी भ्रम में न पड़ने वाले, ब्रह्म ज्ञानी (पुरुष को) ब्रह्म में स्थित समझना चाहिये ।२०।

२२५ बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।

स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ।२१।

बाहरी विषय-भोगों में जिसका मन नहीं फंसा हुआ, वह अपने आत्मा में जो सुख प्राप्त करता है, वह ब्रह्म में अपने आप मिला देने वाला (उस) कभी न कम होने वाले सुख को भोगता है ।२१।

**२२६ ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।**
**आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।२२।**

हे कुन्ती पुत्र (अर्जुन) ये (इन्द्रियों के) स्पर्श से उत्पन्न होने वाले भोग उत्पन्न होकर नाश हो जाने वाले हैं, निश्चय ही उनसे दुःख उत्पन्न होता है ( अतः ) बुद्धिमान् उनमें प्रवृत्त नहीं होते ।२२।

**२२७ शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।**
**काम-क्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ।२३।**

शरीर छोड़ने से पहले इस संसार में ही जो काम और क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को रोकने में समर्थ हो जाता है। वही योगी है, और सुखी है ।२३।

**२२८ योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।**
**स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।२४।**

जिसे अपने अन्दर से ही सुख प्राप्त होता है (अर्थात् जो बाहरी विषयों में सुख की खोज नहीं करता) जो अपने आप में ही रमण करता है, (अर्थात् धन पुत्र कलत्र में जिसकी आसक्ति नहीं) जिसके अन्दर ज्ञान प्रकाश है, वह योगी ब्रह्म रूप को प्राप्त हुआ ब्रह्म में लीन हो जाता (अर्थात् मुक्ति पाता) है ।२४।

२२६ लभन्ते ब्रह्म-निर्वाणमृषयः [1]क्षीण-कल्मषाः ।
[2]छिन्न-द्वैधा यतात्मानः सर्व-भूत-हिते-रताः ।२५।

जिन्होंने अपने आपको वश में किया हुआ है, जिनके संशय दूर हो गये हैं, जो प्राणि मात्र के हित में लगे रहते हैं, ऐसे पाप रहित ऋषि मुक्ति को प्राप्त करते हैं ।२५।

२३० काम-क्रोध-वियुक्तानां यतीनां यत-चेतसाम् ।
[3]अभितो ब्रह्म-निर्वाणं वर्तते [4]विदितात्मनाम् ।२६।

जिन्होंने अपने आपका संयम किया है और अपने आत्मा को जान लिया है तथा काम क्रोध को छोड़ दिया है, ऐसे यत्न शील कर्मयोगियों के दोनों ओर (जीवितावस्था में तथा मृत्यु के बाद ) मुक्ति प्राप्त ही है ।२६।

२३१ स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तर-चारिणौ ।२७।

---

१ द्रष्टारः आत्मावलोकन परा इति रा० ।

२ शीतोष्णादि द्वन्द्वैः विमुक्ताः इति रा०

३ अभितः उभयतो जीवतां मृतानां च इति शं० ।

३ एवं भूतानां हस्तस्थं ब्रह्म-निर्वाणम् इति रा० ।

४ विजितात्मनाम् इति । पाठान्तरम् । रा० ।

२३२ यतेन्द्रिय-मनो बुद्धिर्मुनिर्मोक्ष-परायणः ।
विगतेच्छा-भय-क्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ।२८।

जो मोक्ष को एक मात्र प्रयोजन मानने वाला मुनि (मनन शील व्यक्ति) इच्छा, भय और क्रोध से रहित हो, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को वश में कर, बाहरी विषयों को अन्तः करण से बाहिर निकाल, दृष्टि को भृकुटि के मध्य में स्थिर कर श्वास, और प्रश्वास की गति को समाकर, (इतना सूक्ष्म कर लेता है, कि वे) नासिका के अन्दर ही चलते (प्रतीत होते) हैं (बाहिर नहीं) वह सदा ही मुक्त है ।२७ ।२८।

२३३ भोक्तारं यज्ञ-तपसां सर्व-लोक-महेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्ति मृच्छति ।२९।

मुझे यज्ञ और तपों का भोगने वाला, समस्त लोक का ईश्वर और सभी जीवों का सुहृद्, (हित चाहने वाला) जान कर (मनुष्य) शान्ति पाता है ।२९।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु, ब्रह्मविद्यायां योग-शास्त्रे श्री कृष्णार्जुन संवादे कर्म संन्यास योगो नाम
॥ [1]पंचमोऽध्यायः ॥

---

१ इस अध्याय में अर्जुन ने १ और श्रीकृष्ण ने २८ श्लोक कहे हैं। और आरम्भ से यहां तक कुल २३३ श्लोक हुए हैं।
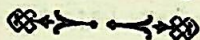
## ॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

श्रीभगवानुवाच —

२३४ अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।१।

श्रीभगवान् बोले—

जो कर्म के फल का आश्रय न करके (अर्थात् कर्म फल की तृष्णा से रहित होकर) कर्तव्य कर्म करता है, वह संन्यासी और वही योगी है। अग्नि को न छूने वाला (अग्नि होत्र न करने वाला) और कर्मों को छोड़ देने वाला (संन्यासी या योगी) नहीं ।१।

२३५ यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्त-संकल्पो योगी भवति कश्चन ।२।

हे पाण्डु पुत्र अर्जुन! जिसे संन्यास (ऐसा) कहते हैं, उसे तू योग समझ क्योंकि कोई भी मन के संकल्पों को छोड़े विना योगी नहीं होता ।२।

२३६ आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ।३।

योग साधन करने की इच्छा वाले मननशील व्यक्ति के लिये (निष्काम भाव से) कर्म करना ही हेतु कहा गया है, और योग के सिद्ध हो जाने पर उसी के लिये शम (सब संकल्पों का अभाव ही) साधन कहा गया है ।३।

२३७ यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।

सर्व-संकल्प-संन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ।४।

जब न इन्द्रियों के विषयों में और न ही कर्मों में आसक्त होता है, तथा सब संकल्पों को भी छोड़ देता है। तब उसे योगारूढ कहते हैं ।४।

२३८ [1]उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।

आत्मैव [2]ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।५।

आप ही अपने को ऊंचा उठावे, अपने को गिरावे नहीं, क्योंकि अपना आप ही अपना बन्धु (उद्धारक) होता है और अपना आप ही अपना शत्रु (अनिष्ट करने वाला) होता है ।५।

२३९ बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ।६।

जिसने अपने (अन्तः करण) को वश में कर लिया है। उसका अपना आप उसका बन्धु (उद्धारक) है और जिसने आपने अन्तः करण को वश में नहीं किया, उसका अपना आप ही उसके साथ शत्रु का सा वर्ताव करता है ।६।

---

१ गीतामृत पृ० xxxii देखें।

२ आत्माएव रुन एव इति। रा०।

२४० जितात्मनः प्रशान्तस्य [1]परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्ण-सुख-दुःखेषु तथा मानापमानयोः ।७।

सरदी-गरमी-सुख-दुःख और मान-अपमान में मन को जीतने वाले प्रशान्त (राग द्वेष रहित) (पुरुष) का आत्मा समभाव में स्थिर रहता है ।७

२४१ [2]ज्ञान-विज्ञान-तृप्तात्मा [3]कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
[4]युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्म काञ्चनः ।८।

ज्ञान (आत्मा तथा परमात्मा की एकता का बोध) और विज्ञान (परिवर्तन शील भौतिक पदार्थों का वास्तविक अनुभव) इन दोनों को समझ लेने से जिसे अब संतोष हो गया है, (कुछ समझना बाकी नहीं रहा) जो कूटस्थ (अविचलित) निर्विकार है और जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में किया हुआ है, जो मिट्टी के ढ़ेले, पत्थर और सोने को समान समझता है (अर्थात् जिसे संसार का कोई प्रलोभन ढुला नहींसकता) वह योगी युक्त (आत्म साक्षात्कार रूप योगाभ्यास का अधिकारी) कहा है ।८।

---

१ परमात्मा समाहितः साक्षात् आत्मभावेन वर्तते । इति श्री शंकराचार्याः । मनसि परमात्मा समाहितः सम्यगाहितः । स्वरूपेण अवस्थितः

प्रत्यगात्मा अत्र परमात्मा इत्युच्यते .... । आत्मा परं समाहित इति वा सम्बन्धः । इति श्री रामानुजाचार्यः ।

२ ज्ञानं शास्त्रोक्त पदार्थानां परिज्ञानं, विज्ञानं तु शास्त्रतो ज्ञातानां तथा एव स्वानुभवकरणं ।इति शं० ।

आत्मस्वरूप-विषयेण ज्ञानेन, तस्य च प्रकृति-विसजातीयाकार, विषयेण विज्ञानेन । इति रा० ।

**२४२ सुहृन्मित्रार्युदासीन-मध्यस्थ द्वेष्य बन्धुषु ।**
**साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ।९।**

सुहृत (प्रत्युपकार न चाह कर उपकार करने वाला) मित्र (समान आयु वाला हितैषी) अरि (किसी कारण से अहित चाहने वाला) उदासीन (हित अहित दोनों में से कुछ न चाहने वाला ) मध्यस्थ( परस्पर विरोध करने वाले दोनों का हितैषी) द्वेष्य(अपने बुरे स्वभाव के कारण द्वेष करने योग्य) बन्धु (सम्बन्धी) साधु (शास्त्र के अनुसार आचरण करने वाला) और पाप (शास्त्राज्ञाओं का उल्लंघन) करने वाला । इन सब प्रकार के पुरुषों में एक समान बुद्धि रखने वाला, जो व्यक्ति हो, वही श्रेष्ठ है ।९।

**२४३ योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।**
**एकाकी यत-चित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ।१०।**

योगी सांसारिक भोग की आशा और भोग्य पदार्थों को संग्रह करना छोड़, एकान्त में अकेला बैठ कर मन और शरीर को वश में करके अपने आपको निरन्तर (लगातार) योग के साधनों में लगावे ।१०।

---

३ कूट कहते हैं, लोहार के अहरन को उस पर लोहा रखकर हथोड़े से कूटते हैं फिर भी वह नीचे से नहीं हिलता । इसी प्रकार सुख दुःख में जिसका मन चंचल नहीं होता वह कूटस्थ कहलाता है ।

४ युक्त-समाहितः उच्यते इति शं० । युक्तः-आत्मावलोकन रूप योगाभ्यासाह उच्यते ।इति रा० ।

२४४ शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिन-कुशोत्तरम् ।११।

पवित्र स्थान पर पहले कुशा, उस पर मृगचर्म और उस पर कपड़ा बिछा कर, न बहुत ऊंचा और न ही बहुत नीचा, ऐसा अपना आसन बनायें, जो स्थिर हो, (हिले डुले नहीं) ।११।

२४५ तत्रैकाग्रं मनःकृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्म-विशुद्धये ।१२।

वहां आसन पर बैठ, अन्तः करण तथा इन्द्रियों के व्यापार को रोक, मन को एकाग्रकर अन्तः करण की शुद्धि के लिये योगाभ्यास करे ।१२।

२४६ समं काय-शिरो-ग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।१३।

काया (धड़) शिर और गर्दन को सीधी (खड़ी) रेखा में अचल रखकर, और दृढ हो इधर उधर न देखता हुआ, अपनी दृष्टि को नाक के अग्रभाग (नोक) पर जमा कर ।१३।

२४७ प्रशान्तात्मा विगतभी र्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चितो युक्त आसीत मत्परः १४।

शान्त और निर्भय हो, ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करता हुआ, मन को वश में कर, मुझ (परमात्मा) में मन लगा, मुझे सबसे श्रेष्ठ समझता हुआ योग, करने बैठे ।१४।

२४८ युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियत-मानसः ।
शान्तिं निर्वाण-परमां मत्संस्थामधिगच्छति ।१५।

इस प्रकार सदा अपने आपको योगाभ्यास में लगाते हुए मन को वश में करने वाला, योगी मुझमें स्थित, मोक्ष रूप शान्ति को पाता है ।१५।

२४९ नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्त-मनश्नतः ।
न चाति-स्वप्न-शीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ।१६।

हे अर्जुन ! बहुत खाने वाले वा अधिक भूखा रहने वाले या ज्यादा सोने वाले अथवा अधिक देर तक जागने वाले का योग (सिद्ध) नहीं होता ।१६।

१५० युक्ताहार-विहारस्य युक्त-चेष्टस्य कर्मसु ।
युक्त-स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।१७।

जो जितना खाना चाहिये, उतना खाता । जितना चलना चाहिये, उतना चलता । जो कर्म करना चाहिये वही करता । जितना सोना वा जागना ठीक हो, उतना ही सोता और जागता है । उसे ही यह दुःख नाश करने वाला योग सिद्ध होता है ।१७।

२५१ यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्व-कामेभ्यो [1]युक्त इत्युच्यते तदा ।१८।

जब भली प्रकार वश में किया हुआ चित्त, आत्मा में स्थिर हो जाता है और सभी प्रकार की कामनाओं को छोड देता है, तब (वह व्यक्ति) युक्त कहलाता है ।१८।

२५२ यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यत-चित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ।१९।

जैसे वायु रहित स्थान में रखा हुआ दीपक निश्चल रहता है, वही उपमा मन को वश में कर योगाभ्यास में लगे हुए योगी के मन की कही है ।१९।

२५३ यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योग-सेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानंप श्यन्नात्मनि तुष्यति ।२०।

योगाभ्यास से निरुद्ध हुआ चित्त जहां उपराम (स्थिर) हो जाता है, और जिस अवस्था में (वहां) अन्तः करण से आत्मा को देखता हुआ आत्मा में ही सन्तुष्ट होता है ।२०।

२५४ सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धि-ग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ।२१ ।

जिस अवस्था में पहुंच यह (योगी) आत्मतत्व से विचलित नहीं होता और उस अनन्त सुख को अनुभव करता है, जो इन्द्रियों से नहीं केवल बुद्धि से ग्रहण किया जा सकता है ।२१।

२५५ यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ।२२।

जिसे पाकर इससे और भी कोई दूसरा बड़ा लाभ है, ऐसा नहीं समझता और जिस अवस्था में पहुंचकर बड़े दुःख में भी विचलित नहीं होता।२२।

२५६ तं विद्याद् दुःख-संयोग-वियोगं योग-संज्ञितम्
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्ण-चेतसा ।२३।

दुःख के सम्बन्ध को नाश करने वाली उस अवस्था का नाम योग जान। उस योग का अनुष्ठान (साधक को) रुचि और दृढ निश्चय से करना चाहिये ।२३।

२५७ संकल्प-प्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रिय-ग्रामं विनियम्य समन्ततः ।२४।

संकल्प से उत्पन्न होने वाली सभी कामनाओं को पूरी तरह से छोड़कर और सब ओर से मन के द्वारा इन्द्रिय समूह को वश में कर ।२४।

२५८ शनैः शनैरुपरमेद् बुद्धया धृति-गृहीतया ।
आत्मसंस्थंमनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ।२५।

धैर्य से बुद्धि के द्वारा धीरे २ विषयों की आसक्ति छोड़े और मन को आत्मा में लगावे तथा अन्य कुछ न सोचे (बाह्य विषयों का चिन्तन न करे) ।२५।

२५९ यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चल मस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ।२६।

जहां २ से यह चंचल तथा अस्थिर मन बाहिर जाने लगे, वहीं २ से रोक कर इसे अपने वश में करे ।२६।

२६० प्रशान्त-मनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्त-रजसं [1]ब्रह्मभूतमकल्मषम् ।२७।

इस शान्त मन वाले, रजोगुण से रहित, ब्रह्मस्वरूप, निष्पाप, योगी को निश्चय ही उत्तम सुख प्राप्त होता है ।२७।

२६१ युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी-विगत-कल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ।२८।

इस प्रकार मन को योगाभ्यास में लगाता हुआ, योगी निष्पाप होकर अनायास ही ब्रह्म साक्षात्कार के अनन्त सुख को अनुभव करता है ।२८।

---

१ ब्रह्म भूतं- जीवन्मुक्तं, ब्रह्म एव सर्वं इति एवं निश्चयवन्तम् इति शं० ।
ब्रह्म भूतं—स्वरूपेणावस्थितम् इति रा० ।

२६२ सर्व-भूतस्थमात्मानं सर्व-भूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योग-युक्तात्मा सर्वत्र सम-दर्शनः ।२६।

योग से युक्त चित्त वाला (पुरुष) सब में समानता का अनुभव करता है और अपने आत्मा को सब प्राणियों में तथा सब प्राणियों को अपने आत्मा में देखता है (अर्थात् समस्त प्राणियों में तथा अपने में आत्मा की एकता को देखता है) ।२६।

२६३ यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।३०।

जो मुझ (परमेश्वर) को सब जगह व्यापक देखता है और सब को मुझ में देखता है। उस (ज्ञानी) के लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता (अर्थात् उसके लिये भगवान् कभी ओझल नहीं होते, एक बार साक्षात् दर्शन हो जाने के बाद भक्त और भगवान् का संयोग सदा बना रहता है) ।३०।

२६४ सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्व मास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।३१।

जो (योगी) एकता का भाव रखता हुआ सभी प्राणियों में स्थित मुझको भजता है (अर्थात् सभी प्राणियों को मुझ एक परमात्मा के अनेक रूप देखता है)। वह सब प्रकार के व्यवहार करता हुआ भी मुझ में ही रहता है ।३१।

२६५ आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।३२।

हे अर्जुन ! जो सब प्राणियों को अपने समान (अर्थात् जैसा मैं हूं वैसे ही दूसरे भी हैं, यह समझता हुआ) सुख वा दुःख (सबको समान) होता है (ऐसा) देखता (अनुभव करता) है, वह श्रेष्ठ योगी है ।३२।

अर्जुन उवाच—

२६६ योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन!।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिंस्थिराम् ।३३।

अर्जुन ने कहा—

हे मधुसूदन जो यह (समदर्शन रूप) योग तुमने कहा है, (मन के) चंचल होने से मैं इस (योग) की दृढ स्थिति नहीं देखता ।३३

२६७ [1]चञ्चलं हि मनः कृष्ण! प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।३४।

हे कृष्ण ! मन बड़ा ही चंचल, क्षुब्ध करने वाला, बलवान और दृढ है इसका रोकना में वायु के (रोकने) के समान बहुत ही कठिन समझता हूं ।३४

---

१ मन बड़ा चंचल है ( कहीं एक जगह ठहरने वाला नहीं। ( यह शरीर में ) खलबली मचा देता है, इतना बलवान् है, कि दूसरों की कुछ चलने नहीं देता। जो चाहता है, मनुष्य से वही करा लेता है और मजबूत इतना है, कि जिस विषय में लग जाता है। उसे इतने ज़ोर से पकड़ता है, कि वहां से इसे कोई हटा नहीं सकता।

श्रीभगवानुवाच

२६८ असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम्।

[1]अभ्यासेन तु कौन्तेय [2]वैराग्येण च गृह्यते ।३५।

श्रीभगवान् बोले—

हे बड़ी बड़ी भुजाओं वाले अर्जुन ! निःसन्देह मन चञ्चल और कठिनता से वश में होने वाला है, परन्तु हे कुन्ती पुत्र ! यह अभ्यास और वैराग्य से वश में किया जा सकता है ।३५।

२६९ असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।

वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ।३६।

मेरा यह निश्चय है, कि अपने मन को वश में न करने वाले को योग की सिद्धि प्राप्त करना बहुत कठिन है, परन्तु जिसने अपने अन्तःकरण को वश में कर लिया है और यत्न करता है; वह उपाय करने से योग की सिद्धि को प्राप्त कर सकता है ।३६।

---

२ अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः । योग द० १।१२।
तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः । योग द० १।१३
स तु दीर्घ-काल-नैरन्तर्य-सत्कार सेवितो दृढ-भूमिः । योग द० १।१४

३ दृष्टानुश्रविक विषय-वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यं । योग द० १।१५
तत्परं पुरुष ख्यातेर्गुण वैतृष्ण्यम् । योग द० १।१६ ।

अर्जुन उवाच—

**२७० अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलित-मानसः ।**
**अप्राप्य योग-संसिद्धिं कां गतिं कृष्ण ! गच्छति ।३७।**

अर्जुन ने कहा—

हे कृष्ण ! जो श्रद्धालु तो है, (विश्वास से अभ्यास में तो लगा रहता है) पर यत्न शील नहीं (मन्दयत्न होने से अन्त समय) जिसका मन योग से विचलित हो गया है, वह योग सिद्धि को न पाकर किस गति को प्राप्त करता ।३७।

**२७१ कच्चिन्नोभय विभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।**
**अप्रतिष्ठो महाबाहो ! विमूढो ब्रह्मणः पथि ।३८।**

वह ब्रह्म के मार्ग से भूला हुआ (जो मन को वश में न रखसकने के कारण विमोहित हो, ब्रह्म में स्थिति लाभ नहीं कर सका) और आश्रय रहित (अर्थात् निष्काम कर्म में श्रद्धा होने से जिसने स्वर्गादि के साधन सकाम कर्म कभी किये नहीं) अतः दोनों ओर से भ्रष्ट हो छिन्न भिन्न बादल की तरह (मार्ग में ही क्या) नष्ट हो जायेगा ? ।३८।

**२७२ एतन्मे संशयं कृष्ण ! छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।**
**त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ।३९।**

हे कृष्ण ! मेरे इस संशय को पूरी तरह से दूर करो, क्योंकि तुम्हारे बिना इसे कोई दूसरा दूर नहीं कर सकता ।३९

---

१ यथा मेघ शकलः पूर्वस्मात् महतो मेघात् छिन्नः
परं महान्तं मेघं अप्राप्य मध्ये विनिष्टो भवति इति रा० ।

श्रीभगवानुवाच —

२७३ पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात! गच्छति ।४०।

श्री भगवान् बोले—

हे पार्थ! उस (पुरुष) का न इस लोक में और न ही परलोक में विनाश हो सकता है, (क्योंकि) प्यारे! कोई भी शुभ कर्म करने वाला कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता ।४०।

२७४ प्राप्य-पुण्य-कृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।४१।

पुण्य करने वाले जिन लोकों में जाते हैं, उन्हें योग भ्रष्ट प्राप्त कर वहां बहुत वर्ष निवास करके, फिर शुभाचरण वाले, धनी लोगों के घर जन्म लेता है ।४१।

२७५ अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ।४२।

अथवा उसका जन्म बुद्धिमान् योगियों के कुल में होता है। इस प्रकार का यह जन्म संसार में बहुत ही दुर्लभ है, अर्थात् किसी बड़े भारी पुण्यात्मा को ही मिलता है ।४२।

२७६ तत्र तं बुद्धि-संयोगं लभते पौर्व-देहिकम् ।
यतते च ततो [1]भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ।४३।

हे कुरुनन्दन अर्जुन ! वहां वह पूर्वजन्म की बुद्धि के संस्कारों को प्राप्त करता है और उसके अनन्तर फिर (योग) सिद्धि के लिये प्रयत्न करता है ।४३।

२७७ पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द-[2]ब्रह्मातिवर्तते ।४४।

वह (योग भ्रष्ट) उसी पूर्वजन्म के अभ्यास के कारण (संस्कारों की प्रबलता से दूसरे जन्म में) अपने आप ही बलात्कार से योगाभ्यास में) खिंच (प्रवृत हो) जाता है (अतः) शब्दों में ब्रह्म (अर्थात् अनुभव हीन केवल शब्द मात्र से ब्रह्मज्ञान) प्राप्त किये व्यक्ति से (तो) योग का जिज्ञासु भी (अनुभवी होने के कारण) बड़ा समझा जाता है ।४४।

---

१ ततः सुप्त-प्रबुद्ध वद् भूयः संसिद्धौ यतते ।इति रा०।

२ शब्दब्रह्म—वेदोक्त कर्मानुष्ठान फलं अतिवर्तते, अपाकरिष्यति, इति शं० । शब्दब्रह्म—देव-मनुष्य-पृथिव्यन्तरिक्ष-स्वर्गादि शब्दाभिलाप योग्यं ब्रह्म प्रकृतिः, प्रकृतिसम्बन्धाद् विमुक्तो देव—मनुष्यादि शब्दाभिलाप नहीं ज्ञानानन्दैकतानम् आत्मानं प्राप्नोति । रा०।

**२७८ प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्ध-किल्बिषः ।**
**अनेक जन्म-संसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।४५।**

प्रयत्न पूर्वक उपाय करता हुआ, योगी कई जन्मों में उन्नति कर और अच्छी तरह पापों से मुक्त होकर फिर मुक्ति को प्राप्त कर लेता है ।४५।

**२७९ तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।**
**कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ।४६।**

योगी तपस्वियों से बड़ा होता है और ज्ञानियों से भी बड़ा माना गया है तथा कर्मियों से भी बड़ा है । इसलिये हे अर्जुन ! तू योगी बन ।४६।

**२८० योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।**
**श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ।४७।**

सब योगियों में भी जो योगी श्रद्धालु हो, मुझसे अपना मन लगाकर मुझे भजता है । मैं उसे अधिक श्रेष्ठ मानता हूं ।४७।

---

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग-शास्त्रे
[कृष्णा]र्जुन संवादे ध्यान योगो नाम

॥ [१] षष्ठोऽध्यायः ॥

१ इस अध्याय में अर्जुन ने ५ और श्रीकृष्ण ने ४२ श्लोक कहे हैं। और प्रारम्भ से यहां तक कुल २८० श्लोक हुए हैं।

## अथ सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

२८१ मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ।१।

श्री भगवान् बोले —
हे पार्थ ! मुझ में मन लगाकर तथा मेरा (परमेश्वर का) आश्रय लेकर योग साधन करता हुआ, मुझ (परमेश्वर) को निस्सन्देह सम्पूर्ण रूप से (विभूति, बल, ऐश्वर्यादि से युक्त) जिस प्रकार जानेगा उसे सुन ।१।

२८२ ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्य मवशिष्यते ।२।

मैं तुझे ज्ञान के साथ विज्ञान (अथवा अनुभव) भी पूरी तरह से बतलाऊंगा । जिसे जान लेने पर इस संसार में फिर और कुछ भी जानने योग्य शेष (बाकी) न रहेगा ।२।

२८३ मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ।३।

हजारों मनुष्यों में से कोई विरला ही सिद्धि (मुझे जानने) के लिये यत्न करता है और उन यत्न करने वाले साधकों में से कोई एक ही मुझ (परमात्मा) को यथार्थ रूप से जानता है ।३।

२८४ भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार [1]इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।४।

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इस प्रकार यह मेरी प्रकृति भिन्न भिन्न आठ विभागों में विभक्त है ।४।

२८५ अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीव-भूतां महाबाहो! ययेदं धार्यते जगत् ।५।

हे महाबाहो! यह अपरा प्रकृति है। इससे दूसरी, मेरी तू जीव रूप परा प्रकृति को जान, जिससे यह जगत् धारण किया जाता है ।५।

२८६ एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः [2]प्रभवः प्रलयस्तथा ।६।

ये (उपर्युक्त अपरा और परा, मेरी दो प्रकृतियां) सभी संसार की कारण हैं, (इसलिये) मैं ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति और प्रलय करने वाला हूं, ऐसा तू जान ।६।

---

१ इति इयं यथोक्ता प्रकृतिः मे मम ईश्वरी मायाशक्तिः इति। श्री शं०।

२ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म। तै ३०३।१।

२८७ [1]मत्तः परतरं नान्यत्, किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं [2]प्रोतं, [3]सूत्रे मणि-गणा इव ।७।

हे धनञ्जय ! (मैं सभी कारणों का भी कारण हूं) मुझ परमेश्वर से परे (आगे) और कोई कारण नहीं। (अथवा मेरे बिना दूसरा कोई पदार्थ है, ही नहीं)। मुझ में यह सभी जगत इस प्रकार पिरोया (गुंथा) हुआ है, जैसे कि सूत्र में मणियां पिरोई हुई होती है ।७।

---

१ तस्माद् हान्यत् न परः किञ्चिनास । ऋ० १०।१२६।२।

२ स ओतश्च प्रोतश्च विभुः प्रजासु । यजुः ३२।८।

३ द्वैत पक्ष—मनके और सूत्र दो भिन्न २ पदार्थ हैं, इसी प्रकार परमेश्वर की दो प्रकृतियों भिन्न २ हैं। दूसरी बात यह कि माला तभी तक माला कहलाती है, जब तक उन मनकों को जोड़ने वाला सूत्र उसमें विद्यमान हो। उसके न होने से उन दानों के समुदाय का नाम माला होता ही नहीं। इसी प्रकार परमेश्वर के बिना जगत् की कोई सत्ता नहीं होती। तीसरे जैसे माला में मनके ही मनके नजर आते हैं, पर जिस सूत्र के कारण उन मनकों को माला का वह रूप मिला है, वह उन सबके अन्दर होने पर भी नजर नहीं आता। इसी प्रकार परमेश्वर सबमें विद्यमान होने पर भी माला के सूत्र की भान्ति आपाततः नजर नहीं आता।

अद्वैत पक्ष—नामधारी (कूके) लोग सूत की डोरी में गांठें लगाकर माला के मनके बनाते हैं। जैसे उस माला की डोरी और मनकों में और दूसरी कोई चीज नहीं केवल सूत्त ही सूत्त है, इसी प्रकार परमेश्वर और उसकी प्रकृतियों में कोई भेद नहीं।

२८८ [1]रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्व-वेदेषु [1]शब्दः खे पौरुषं नृषु ।८।

हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! जलों में रस मैं हूं, चान्द और सूर्य में प्रकाश मैं हूँ । सभी वेदों में ओंकार मैं हूं, आकाश में शब्द और पुरुषों में पौरुष मैं हूं ।८।

२८९ [1]पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च [1]तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्व-भूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ।९।

पृथ्वी में मैं पवित्र गन्ध हूं, अग्नि में तेज मैं हूँ, सभी प्राणियों में जीवन मैं हूं, और तपस्वियों में [2]तप मैं हूं ।९।

२९० बीजं मां सर्व-भूतानां विद्धि पार्थ! सनातम्।
बुद्धि बुद्धि-मतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।१०।

हे पार्थ! तू मुझे सभी भूतों का सनातन बीज (सदा बना रहने वाला कारण) जान। मैं बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज हूं ।१०।

---

१ मैं पृथ्वी में गन्ध, जल में रस, अग्नि में तेज और आकाश में शब्द तन्मात्रा के रूप में हूं।

२ ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं, तपः क्षत्रस्य रक्षणं।
वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम्। मनु ११।२३५।
इस मनु वाक्य के अनुसार चारों वर्णों का जो (वर्ण धर्म) देश के लिये कर्तव्य है, वही भगवान् हैं। उसका अनुष्ठान ही भगवत् प्राप्ति का साधन है।

२६१ बलं बलवतां चाहं काम-राग-विवर्जितम् ।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।११।

हेभरतवंश में श्रेष्ठ अर्जुन ! बलवानों का कामना और आसक्ति से रहित बल मैं हूं और प्राणियों में धर्म के अनुकूल वासना मैं हूं ।११।

२६२ ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।

मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ।१२।

(कर्म संस्कार वश जीवों में नाना प्रकार के) जो ये सात्त्विक राजस और तामस भाव हैं, उन सभी को तू मुझ से उत्पन्न हुए जान। परन्तु मैं उन भावों (के वश) में नहीं हूं, (किन्तु) वे सभी मेरे (वश) में हैं ।१२

२६३ त्रिभिर्गुणमयै र्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।

मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ।१३।

इन तीन गुण रूप भावों से यह सारा जगत मोहित (विवेक शून्य) हुआ २ इन गुणों से परे विकार रहित मुझ (ईश्वर) को नहीं जान पाता ।१३।

२६४ दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।१४।

यह अलौकिक (सत्व रज तम इन तीनों) गुणों वाली मेरी माया बड़ी ही दुस्तर है । अतः जो मेरी ही शरण में आते हैं । वही इस माया को तरते हैं, अर्थात् इस माया के बन्धनों से मुक्त होते हैं ।१४।

२९५ न मां [1]दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृत-ज्ञाना [2]आसुरं भावमाश्रिताः ।१५।

माया से जिनका ज्ञान नष्ट हो गया है, ऐसे विवेकशून्य पाप कर्मों में लगे रहने वाले अधम लोग (दम्भ, दर्प हिंसा आदि) आसुरी भावों में लगे रहने से मेरी शरण में नहीं आते ।१५।

२९६ चतुर्विधाः भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो-जिज्ञासु रर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ! ।१६।

हे भरतवंश में श्रेष्ठ अर्जुन! आर्त्त (आधि-व्याधि विपत्ति ग्रसित दुःखपीडित) जिज्ञासु (भगवान् क्या है ? इस तत्व को जानने की इच्छा वाला) अर्थार्थी (इन्द्रियों के भोग अर्थ कहलाते हैं, इन की इच्छा वाला) और ज्ञानी (जिसे परमेश्वर के स्वरूप का वास्तविक बोध हो चुका है) ये चार प्रकार के पुण्य कर्मा लोग (अर्थात् जब इनके पूर्व जन्म का पुण्य उदय होता है तब) मेरी उपासना करते हैं ।१६।

---

१ मां दुष्कृत तारतम्यात् चतुर्विधा न प्रपद्यन्ते। १ मूढाः, २ नराधमाः, ३ मामया अपहृत ज्ञानाः, ४ आसुरं भाव आश्रिता इति ।रा०।

२ मद्विषयं मदैश्वर्य विषयं च ज्ञानं दृढ़ं उपपन्नं येषां द्वेषाय एव भवति ते आसुरं भावम् आश्रिताः उत्तरोत्तराः पापिष्ठतमाः ।इति रा०।

**२६७ तेषां 'ज्ञानी नित्य-युक्त एकभक्ति र्विशिष्यते ।**
**प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।१७।**

निरन्तर योग साधन में लगा रहने वाला और एक मात्र मुझे ही चाहने वाला, ज्ञानी भक्त इनमें श्रेष्ठ है । निश्चय ही ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूं और वह ज्ञानी मेरा प्रिय है १७।

**२६८ उदराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।**
**आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ।१८।**

ये सभी भक्त श्रेष्ठ हैं, परन्तु ज्ञानी तो मेरा आत्मा ( स्वरूप ) ही है, ऐसा मैं मानता हूं, क्योंकि वह सदा योग साधन में लगा हुआ मुझ (ईश्वर)को ही सर्व श्रेष्ठ प्राप्तिस्थान मान कर मेरे आश्रय रहता है ।१८।

---

१ आर्त्त सुख से नहीं, दुःख से विवश होकर भक्त बनता है । अतः विवश से स्वेच्छा पूर्वक भक्ति करने वाला जिज्ञासु श्रेष्ठ है, परन्तु जिज्ञासु को आरम्भ में भगवान् की सत्ता पर विश्वास नहीं होता । अतः चाहे भोग प्राप्ति के लिये ही सही, किन्तु ईश्वर पर पहिले से विश्वास रखने वाला अर्थार्थी उससे श्रेष्ट है और ज्ञानी तो एक मात्र भगवान् को ही सब कुछ मानता है । अतः वह सर्व श्रेष्ठ है ।

दूसरे ( आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ) भक्त सुकृति तो हैं, परन्तु एक भक्त नहीं, कारण यह कि उनकी भक्ति एक अपने २ उद्देश्य में और दूसरी उसको पूर्ण करने वाले भगवान् में होती है, अतः उनकी भक्ति दो २ में हुआ करती है, पर ज्ञानी तो केवल भगवान् को ही चाहता है । यही उसकी विशेषता है । इसलिये भी सर्व श्रेष्ठ है ।

२९९ बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।१९।

. बहुत से जन्मों के बाद (जिसकी यह भावना दृढ हो जाती है कि) यह सभी (संसार) वासुदेव (परमात्मा का रूप) है। ऐसा ज्ञानी मुझ (परमात्मा) को प्राप्त होता है। वह महात्मा बड़ा ही दुर्लभ है। अर्थात लाखों में कोई एक होता हैं ।१९।

३०० कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ।२०।

(पूर्व जन्म के संस्कारों से बनी) अपनी प्रकृति के वश में होने के कारण उन २ (स्त्री, पुत्र, पशु, धन आदि) कामनाओं से जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, वे (उक्त फल प्राप्ति के लिये) भिन्न २ (कथित) विधि विधानों से अन्य देवताओं की आराधना करते हैं ।२०।

३०१ यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।२१।

जो २ (सकामभक्त) जिस २ देवता के स्वरूप की श्रद्धा से पूजन करना चाहता है। मैं उस २ (भक्त) की उस देवता विषय में अचल श्रद्धा को स्थिर करता ।२१।

३०२ स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधन-मीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ।२२।

वह पुरुष उस श्रद्धा से युक्त उस (देवता) की अराधना के लिये यत्न करता है और मेरे द्वारा नियत की गई, उन कामनाओं को निस्सन्देह उस देवता से प्राप्त करता है ।२२।

३०३ अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्प-मेधसाम् ।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि । २३।

इन [1] अल्प बुद्धिवाले लोगों को जो फल मिलता है, वह अचिरस्थयी होता है। देवों का पूजन करने वाले देवों को प्राप्त होते हैं और मेरे (परमेश्वर के) भक्त मुझ (परमेश्वर) को प्राप्त करते हैं ।२३।

३०४ अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।२४।

बुद्धिहीन लोग मेरे (सत्व, रज, तमो गुण, से) परे के सर्वोत्तम अविकारी भाव को न जानते हुए ऐसा समझते हैं, कि मैं (पहले) प्रकट नहीं था, (अब) प्रकट हुआ हूं ।२४।

---

१ समान परिश्रम करने पर भी देव-भक्त नित्य रहने वाले फल का यत्न न कर, नश्वर फल पाने का प्रयत्न करते हैं । इसीलिये वे अल्पबुद्धि कहे हैं । परन्तु १५ वें श्लोक में वर्णित पाप कर्म में आसक्त ईश्वर की भक्ति न करने वाले असुर प्रकृति के मूढ़लोगों से ये बहुत अच्छे हैं ।

३०५ नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया-समावृतः।
मूढोऽयं नाभि-जानाति लोको मामजमव्ययम् ।२५।

मैं योग ( तीन गुणों का योग ही है माया उस) माया से ढका हुआ सब के लिये प्रकट नहीं हूं। इसलिये यह मूढ जन समुदाय मुझ जन्म और विकार रहित (परमेश्वर) को नहीं जानता ।२५।

३०६ वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ! ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ।२६।

हे अर्जुन ! जो पहले हो चुके हैं, जो इस समय हैं, तथा जो आगे होंगे, उन सब प्राणियों को मैं जानता हूं, परन्तु मुझे कोई नहीं जानता ।२६।

३०७ इच्छा-द्वेष-समुत्थेन द्वन्द्व-मोहेन भारत ! ।
सर्व-भूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ! ।२७।

हे शत्रुओं को तपाने वाले, भरत वंशीय अर्जुन ! जन्म काल में (उत्पन्न होते ही) इच्छा द्वेष से उत्पन्न हुए (सुख दुःख आदि) द्वन्द्वों के मोह से सब प्राणि मोह को प्राप्त होते हैं ।२७।

३०८ येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्व-मोह-निर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ।२८।

जिन पुण्य कर्म करने वालों के पाप समाप्त हो चुके हैं। वे द्वन्द्व (राग द्वेष के) मोह से छुटकारा पाये हुए लोग दृढ़ता पूर्वक मेरी अराधना करतेहैं ।२८।

३०९ [1]जरा-मरण-मोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ।२९।

जो मेरा आश्रय लेकर बुढापे और मृत्यु से छुटकारा पाने के लिये यत्न करते हैं । वे उस ब्रह्म को, सम्पूर्ण आध्यात्म को और समस्त कर्मों को जान जाते हैं ।२९।

३१० साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रमाण-कालेऽपि च मां ते विदुर्युक्त-चेतसः ।३०।

जो मुझे अधिभूत ([2]परिणामशील प्रकृति) अधिदैव (पुरुष-आत्मा) और अधियज्ञ (परमेश्वर) के साथ जान लेते हैं, वे मन को वश में रखने वाले योगी [3]मरण समय में भी मुझको जानते हैं ।३०।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग-शास्त्रे
श्री कृष्णार्जुन संवादे ज्ञान विज्ञान योगो नाम

॥ [4]सप्तमोऽध्यायः ॥

---

१ २गीतामृत पृ० XXXV देखें ।

२ देखो गीता ८।४।

३ देखो गीता ८।६।

४ इस अध्याय के ये ३० श्लोक श्रीकृष्ण के हे हुए हैं और आरम्भ से यहां तक कुल ३१० श्लोक हुए हैं ।

# अथ अष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

३११ किं तद् ब्रह्म किमाध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम !।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ।१।

अर्जुन ने कहा—

हे पुरुषोत्तम ! यह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत किसे कहते हैं और अधिदैव क्या होता है ?

३१२ अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसून !
प्रयाण-काले च कथं ज्ञेयोऽसि नियातात्मभिः ।२।

हे मधुसूदन ! इस देह में अधियज्ञ कौन है तथा कैसे है ? मृत्यु के समय समाहितचित्त वाले योगियों द्वारा आप कि स प्रकार जाने जाते हैं।

श्रीभगवानुवाच—

३१३ अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
'भूत-भावोद्भव-करो विसर्गः कर्म संज्ञितः ।३।

श्री भगवान बोले—

अविनाशी ( तत्वों में जो ) सर्व श्रेष्ठ ( तत्व है वही ) ब्रह्म है। (चराचर सभी भिन्न २ पदार्थों में जो उनकी आस्तित्व द्योतक एक सत्ता ( है ) है, वही उस ब्रह्म को (स्व) ( निज ) भाव ( सत्ता है, उसी ) स्वभाव को अध्यात्म कहा गया। चराचर की उत्पत्ति और वृद्धि करने वाला ( उस ब्रह्म का "एकोऽहं बहु स्याम" यह संकल्प रूप) व्यापार (सभी कर्मों के आदि मूल) का नाम कर्म है।३।

३१४ अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधि दैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देह-भृतांवर ।४।

हे देह धारियों में श्रेष्ठ अर्जुन! नाशवान् पदार्थ अधिभूत कहलाता है और शरीर में आत्म सत्ता (तथा संसार रूप शरीर में हिरण्यगर्भ) का नाम अधिदैव है और इस देह में [जो यह यज्ञ हो रहा है उसमें] मैं (ईश्वर) ही अधियज्ञ [यज्ञ का अष्ठिाता] हूं ।४।

३१५ अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ।५।

इसमें [कोई] सन्देह नहीं, कि अन्त समय में जो मुझको स्मरण करते २ शरीर को छोड़ता है, वह मेरे (परमेश्वर के) भाव (रूप) को ही प्राप्त होता है ।५।

३१६ यं यं वापि स्मरन् भावं [2]त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः ॥६॥

हे कौन्तेय! अन्त समय में जिस २ भाव का स्मरण करता हुआ पुरुष शरीर छोड़ता है। वह सदा उस २ भाव (के पूर्व अभ्यासवश प्रवल संस्कार होने से) प्रभावित हुआ २ उसी भाव को प्राप्त होता है ।६।

३ श्लोक की टिप्पणी (१) अथवा प्राणियों के भावों को उत्पन्न करने वाले (विसर्ग) स्फुरण का नाम कर्म है। अर्थात् प्राणियों के मन में जिस क्रिया से भाव उत्पन्न होते हैं, उसी का नाम कर्म है।

२ आदि भरतादयः तदानीं स्मर्यमाण मृगसजातीयाकाराः संभूताः इति रा०

३१७ तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पित मनो बुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।७।

इस लिये तू हर समय मेरा स्मरण करता रह और युद्ध भी कर। मन और बुद्धि को मुझमें लगा देने से तू निस्सन्देह मुझे ही प्राप्त होगा ।७।

३१८ अभ्यास-योग-युक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ।८।

अभ्यासरूप योग से युक्त [परमात्मा के सिवाय और] किसी दूसरे पदार्थकी ओर न जानेवाले (अर्थात् स्थिर) मन से परम दिव्य [प्रकाशमान्] परमपुरुष [परमात्मा] को प्राप्त होता है ।८।

३१९ कविं पुराणमनुशासितार,
मणोरणीयां समनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्य रूप,
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।९।

जो पुरुष सर्वदर्शी, सनातन, सर्वनियन्ता सूक्ष्म से भी सूक्ष्म सबको धारण करने वाले, अचिन्तस्वरूप (मनकी पहुच से परे) सूर्य के समान स्वतः प्रकाशमान् (अविद्या रूपी) अन्धकार से रहित (परमेश्वर) का स्मरण करता है।

३२० प्रयाण-काले मनसाऽचलेन,
भक्त्या युक्तो योग-बलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्,
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।१०।

वह मृत्यु के समय भक्ति और योग के बलसे मन का स्थिर कर प्राणों को भृकुटी (दोनों भौं) के मध्यमें भली प्रकार प्रविष्ट करके उस अलौकिक परम पुरुष को प्राप्त कर लेता है ।१०।

३२१ [1]यदक्षरं वेद-विदो वदन्ति,
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति,
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ।११।

वेद के जानने वाले जिसे अक्षर कहते हैं, आसक्ति रहित यत्न-शील लोग जिसमें प्रवेश करते (अर्थात जिसे प्राप्त होते) हैं। जिसे [जानने की] इच्छा करते हुए [लोग] ब्रह्मचर्याव्रत धारण करते हैं वह पद [प्राप्त करने योग्य स्थान] तुझे संक्षेप से कहूंगा ।११।

---

[१] सर्वेवेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् । ।क० उ० २।१५।

३२२ सर्व-द्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योग-धारणाम् ॥१२॥

समस्त इन्द्रियों का संयम कर, मन को हृदय में स्थिर करके और अपने प्राणों को मस्तक में लेजाकर योग की धारणा में स्थिर हो।१२।

३२३ [1]ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्।१३।

"ओ३म्" यह एक अक्षर जो ब्रह्म का (बोधक है, इसका) जप करते हुए मुझ (परमात्मा) को स्मरण करते जो पुरुष शरीर त्याग करके इस संसार से जाता है, वह परम गति को प्राप्त करता है।१३।

३२४ अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ! नित्य-युक्तस्य योगिनः।१४।

हे पार्थ! किसी अन्य वस्तु में मन न लगाकर जो निरन्तर प्रतिदिन मेरा (परमात्मा का) स्मरण करता है। उस सदा समाहित चित्त वाले योगी को मैं सुलभता से प्राप्त होता हूं।१४।

३२५ मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।१५।

महात्मा लोग मुझ (ईश्वर) को पाकर परमसिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त कर लेनेसे फिर) दुःखों के घर (जिसमें दुःख रहते हैं) और विनाशी दूसरे जन्म को नहीं प्राप्त होते।१५।

---

१ गीतामृत पृष्ठ xxxvi देखें।

३२६ आब्रह्म-भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।

मामुपेत्य तु कौन्तेय ! पुनर्जन्म न विद्यते ।१६।

हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोकों में (जाने से) पुनर्जन्म होता है। परन्तु कुन्ती पुत्र ! मुझ (ईश्वर) को प्राप्त कर फिर जन्म नहीं होता है ।१६।

३२७ [1]सहस्र-युग-पर्यन्त महर्यद् ब्रह्मणो विदुः ।

रात्रिं युग-सहस्रान्तां ते ऽहोरात्र विदो-जनाः ।१७।

(देवों के) हज़ार युगका ब्रह्मा का एक दिन और एक हजार युगकी ही उस रात्रि को (जो) जानते हैं, वे दिनरात्र को जानने वाले हैं ।१७।

---

१ यह ब्रह्मा का एक दिन चारअरब बत्तीसकरोड़ वर्षोंका होता है।

यथा-दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः ।मनु १।६६।
दैविकानां युगानां तु सहस्रं परि-संख्यया ।
ब्राह्ममेक महर्ज्ञेयं तावतीं रात्रि मेव च ।मनु १।७२।
कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम् ।
प्रोच्यते तत्सहस्रं तु ब्रह्मणो दिवसो मुने । विष्णुपुराण

युगसहस्रं रात्रिः तावेतावहोरात्रावजस्रं परिवर्तते सकालः । तदेतद् अहर्भवति तं ।

सहस्रयुग पर्यन्तमह यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां ते होरात्र विदो जनाः ।४। निरुक्त ।१४।४।मनु १।७३।
महा० शा० ,३१।२१। ब्रह्मसिद्धान्त१४४।४५ में भी यह श्लोक आय. है ।

३२८ अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्त-संज्ञके ।१८।

(ब्रह्मा के) दिनके आरम्भ में सब व्यक्त पदार्थ प्रकृति से उत्पन्न होते हैं और फिर रात्रि के आने पर उसी प्रकृति में लीन हो जाते हैं ।१८।

३२९ भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ ! प्रभवत्यहरागमे ।१९।

हे पार्थ ! वही परतन्त्र (कर्माधीन) भूत समुदाय उत्पन्न हो २ कर रात्रि के आने पर लीन हो जाता है और दिन होते ही फिर उत्पन्न होने लगता है ।१९।

३३० परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः
यःस सर्वेषु भूतेषु, नश्यत्सु न विनश्यति ।२०।

उस अव्यक्त [प्रकृति] से परे जो एक दूसरा सनातन अव्यक्त [परब्रह्म] भाव है । वह सब भूतों के नाश होने पर भी नाश नहीं होता ।२०।

३३१ अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।२१।

अव्यक्त को अक्षर कहा गया है और उसी को परमगति (सर्वोत्तम प्राप्य वस्तु) कहते हैं जिसे प्राप्त होकर वापिस नहीं लौटते । वह मेरा [ईश्वर का] परम धाम है ।२१।

३ ३ २ पुरुषः स परः पार्थ ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।

यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ।२२।

जिसके अन्दर सभी भूत हैं और जिसने इस ब्रह्माण्डको विस्तृत किया है (अथवा यह समस्त संसार जिससे व्याप्त है) वह परम पुरुष [परमेश्वर] अनन्य भक्ति से ही प्राप्त होता है ।२२।

३ ३ ३ यत्रकाले [1]त्वनावृत्ति-मावृत्तिं चैव योगिनः ।

प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ।२३।

हे अर्जुन ! जिस काल में मर कर योगी फिर (संसार में) नहीं लौटते (मोक्ष पाते हैं) और जब मर कर लौटते हैं (फिर जन्म लेते हैं) मैं उस काल को कहूंगा ।२३।

३ ३ ४ [2]अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्म-विदो जनाः ।२४।

(माघ से लेकर अषाढ तक इन) उत्तरायण के छः महीनों के शुक्ल पक्षों में दिन को पोह फूटने पर उषा काल में अग्नि होत्र के समय जो ब्रह्म ज्ञानी इस संसार को छोड़ते हैं, वे ब्रह्म में समा जाते हैं, अर्थात् उनकी मुक्ति हो जाती है ।

---

१ गीतामृत पृ० xxxvii देखें ।

२ (क) श्लोक में अग्नि शब्द अग्नि होत्र कालका बोधक है और ज्योति तथा अहः ये दो पद उस अग्नि होत्र के काल को ठीक निर्धारित करने के लिये आये हैं, क्योंकि "उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा"

**३३५ धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निर्वतते ।२५।**

(श्रावण से लेकर पौष तक इन) दक्षिणायन के छः महीनों के कृष्ण पक्ष की रात्रियों में (जब सायं काल के अग्निहोत्र की (अग्नि) (देर तक जल २ कर शान्त हो जाने से कुछ २ ) धूंआ देने लगती है और उधर रात्रि अधिक हो जाने के कारण (तिथि क्रम से) चान्द की चान्दनी निकल आती है, उस समय शरीर छोड़ कर चन्द्र लोक (पितृ लोक) में गया हुआ कर्म काण्डो कर्मों का फल भोगकर फिर लौट आता। अर्थात् फिर जन्म लेता है ।२५।

---

(मनु२।१९) इस वाक्य के अनुसार अग्निहोत्र सूर्योदय से पहले तथा सूर्योदय के होने पर दोनों ही समय हो सकता है, अतः ठीक समय निश्चित करने के लिये ज्योतिः (प्रकाश) तथा अहः (दिन) ये दो पद दिये गये हैं। जिससे उनका अर्थ हुआ, दिन से पहले का प्रकाश अर्थात् सूर्योदय से पूर्व होने वाले अग्नि होत्र का समय (उषा काल) ।

(ख) ज्ञानी को मुक्ति यथा सकाम सत्कर्म करने वालों को स्वर्ग मिलता है। यह शास्त्र का सिद्धान्त है, परन्तु कई लोग ब्रह्मज्ञान न होने पर भी दिखावे के लिये ब्रह्मज्ञानी बन बैठते हैं, इसी प्रकार कुछ लोग लोकवंचना के लिये विधिविधान विहीन कर्म करते हुए भी अपने आपको धार्मिक, दानी वा याज्ञिक प्रख्यात कर दिया करते हैं, परन्तु उनकी वास्तविक पहचान उनके मृत्यु समय में ही होती है। अतः कोई ज्ञानी वा कर्मी कहलाने वाला सचमुच अपनी ज्ञाननिष्ठा वा कर्मनिष्ठा

## २४, २५ वें श्लोक की टिप्पणी

में सफल हुआ है या नहीं। इसका अनुमान उसके मृत्यु काल से करने की धारणा हमारे यहां उपनिषद् काल से ही चली आ रही है। छान्दोग्य ५।१०। बृहदारण्यक ६।२। मुण्डक ३।१। प्रश्न ३।१६। तथा याज्ञवल्क्य स्मृति ३।१६। में इसका वर्णन है। एवं बृहदारण्यक ६।२। में ब्रह्मज्ञानी तथा योगी जिनकी मुक्ति तथा स्वर्ग प्राप्ति का वर्णन यहां गीता ने भी किया है, उनके अतिरिक्त जो ज्ञान तथा कर्म से विहीन लोग हैं। उनका भी वर्णन इसप्रकार किया गया है कि **"अथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतंगा यदिदं दन्तशूकम्"** बृ० उ० ६।२। अतः उपनिषद काल से चली आई इस धारणा का ध्यान कर कि "दक्षिणायन में मरने वालों को फिर जन्म लेना पड़ता है और उत्तरायण में प्राण छोड़ने से मुक्ति मिलती है" दक्षिणायन में बाणों से विन्ध जाने पर उस असह्य वेदना को सहते हुए शरशय्या शायीभीष्म ने दक्षिणायन में पूरे ५८ दिनों तक प्राणों को रोक कर उत्तरायण होने पर ही प्राण छोड़े थे।

यथा—पतन् स ददृशे चापि दक्षिणेन दिवाकरम् ।६२।
तानब्रवीच्छान्तनवो नाऽहं गन्ता कथञ्चन।

दक्षिणावर्त आदित्ये एतन्मे मनसि स्थितम् ।१०४।
तस्मात्प्राणान्धारयिष्ये मुमूर्षुरुदगायने ।१०७। म० भीष्म प० अ० ११६।

[ग] कुछ टीकाकारों ने २४ तथा २५ वें श्लोक का यह भी आशय लिखा है, कि **द्वे सृती अशृणवं पितॄणामह देवानामुत मर्त्यानाम्**। ऋग्वेद १०।८८।१५ में, अच्छा और बुरा दो मार्ग बतलाये हैं, यही बात

३३६ शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्ति मन्ययावर्तते पुनः ।२६।

संसार के शुक्ल तथा कृष्ण ये दोनों ही मार्ग सदा से चले आ रहे हैं। (मनुष्य) एक (पहले) पर चलने से फिर नहीं लौटता (मुक्त हो जाता है ) और दूसरे पर चलने से (उसे) बार २ लौटना (जन्मना मरना) पड़ता है ।२६।

---

२४, २५ श्लोककी टिप्पणी।

गीता ८।२६ में कहीं है, कि अच्छे रास्ते पर चलने वाले मुक्ति पाते हैं और बुरे मार्ग पर चलने वाले संसार चक्र में पड़े हुए बार बार जन्म मरण का दुःख सहते हैं। पर अच्छा क्या है और बुरा क्या यह गीता ८।२४ तथा २५ में बतलाया है, कि अग्नि (ईश्वरीय) ज्योति (ज्ञान) और अह: (जाग्रति उत्पन्न करने वाला) शुक्ल पक्ष (सत्यक्ष का आश्रय) उत्तरायण (अधिक ऊंचा मार्ग है) उस पर चलने वाले ज्ञानी मुक्ति पाते हैं।२४। धूम (मलिन वासना जनित) (रात्रि) अज्ञान तथा कृष्णपक्ष (निकृष्ट पक्ष) का आश्रय (ये सब) दक्षिणायन (यम अर्थात् मौत विपत्ति वा (दुःख के मार्ग ) हैं (इस मार्ग पर जाने वाले को) चान्द्रयस ज्योति (मनको मोहित करने वाली झलक तो) मिलती है पर उसे पाकर उसे) फिर लौटना (संसार चक्र में फंस कर जन्ममरण का दुःख सहन करना) पड़ता है।२५।

(घ) श्री शंकराचार्य जी ने अग्नि ज्योति तथा धूमो रात्रि इन दोनों श्लोकों में अग्नि और धूम, आदि के देवता यह अर्थ लिया है, जो कि सर्व साधारण के लिये रहस्यमय सा है।

(ङ) राष्ट्रपिता श्री गांधी जी ने अपनी गीता की टीका में लिखा है, कि ऊपर के दो श्लोकों को मैं पूरी रीति से नहीं समझा।

३३७ नैते सृती पार्थ! जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योग-युक्तो भवार्जुन ।२७।

हे पृथा के पुत्र ! इन दोनों मार्गों को जानने वाला कोई योगी (समत्व बुद्धि वाला) मोह को प्राप्त नहीं होता। इसलिये हे अर्जुन! तू हर समय योग युक्त (समत्व बुद्धि वाला) हो ।२७।

३३८ वेदेषु यज्ञेषु तपस्सु चैव,
दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
[1]अत्येति तत्सर्वमिदं [2]विदित्वा,
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ।२८।

वेद पढ़ने, यज्ञ करने, तप करने तथा दान देने से जो पुण्य फल शास्त्र में कहें हैं। इस (अर्थात दो मार्गों के तत्व) को जान कर योगी (समत्व बुद्धि वाला) उन सबको उल्लंघन कर सनातन परम पद (मुक्ति) को प्राप्त कर लेता है।२८।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग-शास्त्रे
श्री कृष्णार्जुन संवादे तारक ब्रह्म योगो नाम
॥ [3]अष्टमोऽध्यायः ॥

---

१ इदम्-अध्याय द्वयोदितं भगवन्माहात्म्यं विदित्वा तत् सर्वम् अत्येति एतद्वेदनसुखातिरेकेण तत् सर्वं तृणवत् मन्यते। इति रा०।

२ इदं विदित्वा सप्तप्रश्न निर्णय-द्वारेण उक्तं सम्यक् अवधार्य अनुष्ठाय। इति शं०।

३ इस अध्याय में अर्जुन ने २ और श्रीकृष्ण ने २६ श्लोक कहे हैं। और आरम्भ से यहां तक कुल ३३८ श्लोक हुए हैं।

## अथ नवमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

३३९ इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञान-सहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।१।

श्री भगवान् बोले —

तू [1]असूया रहित है, इसलिये अनुभव सहित, यह बहुत ही गुप्त ज्ञान मैं तुझे बतलाऊंगा । जिसे जान कर तू अशुभ (स्ववर्णोचित्त कर्म में पाप बुद्धि रूप मोह) से मुक्त हो (छूट) जायेगा ।१।

३४० राज-विद्या राज-गुह्यं पवित्रमिद-मुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तु मव्ययम् ।२।

यह (सभी) विद्याओं का राजा (श्रेष्ठ) गुप्त रखने योग्य भावों का भी राजा (अति गोपनीय) पवित्र, उत्तम, (सुख दुःख की भांति) प्रत्यक्ष अनुभव में आनेवाला, धर्म सम्मत, आचरण करने में सुगम और अविनाशी (फल वाला) है ।२।

३४१ अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्यु-संसार-वर्त्मनि ।३।

हे परंतप अर्जुन ! इस धर्म पर श्रद्धा न रखने वाले पुरुष मुझ (ईश्वर) को प्राप्त न होकर मृत्यु रूप संसार के मार्ग पर भ्रमण करते रहते हैं ।३।

---

१ गुणों में दोष बुद्धि करने को असूया कहते हैं ।

३४२ मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्त-मूर्तिना ।
[1]मत्स्थानि सर्व-भूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ।४।

मुझ अव्यक्त रूप (परमेश्वर) से यह सब जगत् व्याप्त है (अथवा फैलाया (व्यक्त किया) गया है)। चराचर सभी मुझ में (अर्थात् मेरे आधार पर) स्थित हैं। परन्तु मैं उनके आधार पर स्थित नहीं हूं ।४।

३४३ [2]न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योग मैश्वरम् ।
भूत-भृन्न च भूतस्थो [3]ममात्मा भूत-भावनः ।५।

और ये सब भूत (भी मुझ से पृथक् अपनी सत्ता न रखने के कारण) मुझ में स्थित नहीं हैं ! मेरी ईश्वरीय योग शक्ति को देख, भूतों का धारण-पोषण तथा उत्पन्न करने वाला होकर भी मेरा आत्मा भूतों में स्थित नहीं है, अर्थात् निर्लेप है।

---

१ न हि निरात्मकं किंचिद् भूतं व्यवहाराय अवकल्पते
अतो मत्स्थानि मया आत्मना आत्मवत्वेन स्थितानि
अतो मयि स्थितानि इति उच्यन्ते ।
तेषां भूतानाम् अहम् एव आत्मा इति अतः तेषु स्थित इति
मूढ़बुद्धिनाम् अवभासते । अतः ब्रवीमि न च अहं तेषु भूतेषु आवस्थितः ।
मूर्तवत् संश्लेषाभावेन आकाशस्य अपि अन्तरतमो हि अहम् ।
नहि असंसर्गि वस्तु क्वचित् आधेय भावेन अवस्थितं भवति । इति शं० ।
न च अहं तेषु अवस्थितः अहं तु न तदायत्त स्थितिः,
मत्स्थितौ तैः न कश्चित् उपकार इत्यर्थः । इति रा० ।

२ न घटदीनां जलादेः इव धारकत्वं, कथम् ? मत्संकल्पेन इति रा०

३ मम मनोमयः संकल्प एव भूतानां भावयिता धारयिता, नियन्ता च इति रा०

३४४ [1]यथाकाश-स्थितो नित्यं वायु सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि [1]मत्स्थानीत्युपधारय ।६।

जैसे सर्वत्र गमन करने वाली महान् वायु आकाश में नित्य रहती है। वैसे ही सब भूत मुझ (परमेश्वर) में (निर्लिप्त भाव से) रहते हैं, यह तू जानले ।६।

३४५ सर्व भूतानि कौन्तेय [2]प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्
कल्प-क्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ।७।

हे कुन्ति पुत्र अर्जुन ! कल्प के अन्त में सभी भूत मेरी प्रकृति में लय हो जाते हैं और फिर मैं कल्प (सृष्टि) के आदि में उन्हें उत्पन्न करता हूं ।७।

३४६ प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृते-र्वशात् ।८।

प्रकृति के वश होने से पराधीन उस संपूर्ण भूत समूह को मैं अपनी प्रकृति को वश में (आश्रय) करके बार बार उत्पन्न करता हूँ ।८।

३४७ न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ! ।
उदासीन-वदासीन [3]मसक्तं तेषु कर्मसु ।९।

हे अर्जुन! उन (सृष्टि के उत्पत्ति संहार आदि) कर्मों में उदासीन की तरह रहने वाले आसक्ति रहित मुझ को वे कर्म बन्धन में नहीं डालते ।९।

---

१ आकाशवत् सर्वगते मयि । इति शं० ।

२ मच्छरीरभूतां प्रकृतिं " सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् ।मनु १।८। रा०

३ अतः अन्यस्य अपि कर्तृत्वाभिमानाभावः फलासङ्गाभावः च अबन्धकारणम् । इति शं० ।

३४८ मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चरा-चरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय ! जगद्विपरिवर्तते ।१०।

हे कुन्ति पुत्र अर्जुन ! मेरी अध्यक्षता से प्रकृति समस्त चराचर को उत्पन्न करती है। इस हेतु से संसार (चक्र) घूम रहा है।१०।

३४९ अवजानन्ति मां [1]मूढा मानुषीं तनु माश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूत-महेश्वरम् ।११।

मेरे परम भाव को न जानने वाले मूढ लोग मनुष्य का शरीर धारण करने वाले मुझ समस्त भूतों के महान् ईश्वर की अवज्ञा करते हैं।११।

३५० [2]मोघाशा, [3]मोघकर्माणो मोघ-[4]ज्ञाना विचेतसः।
[5]राक्षसी [6]मासुरीं चैव प्रकृतिं [7]मोहिनीं श्रिताः ।१२।

झूठी आशाएँ रखने वाले, व्यर्थ कर्म करने वाले, मिथ्या ज्ञान वाले, बेसमझ लोग, राक्षसी, आसुरी तथा मोहनी (विवेक ज्ञान का नाश करने वाली) प्रकृति (स्वभाव का) आश्रय किये हुए होते हैं।१२।

---

१ मनुष्यत्व-समा-श्रयण-मात्रेण माम् इतर-सजातीयं मत्वा तिरस्कुर्वन्ति इत्यर्थः। इति रा०।

(२) गीता १६—१२। (३) गीता १६—२३। (४) गीता १८—२२।

५ रक्षितव्य मेभ्यः स्वमिति, रक्षः, रक्ष, एव राक्षसाः स्वार्थेऽण् (जैसे क्रूर आदमी जिनसे दूसरे लोगों को अपना आप बचाना चाहिये।

६ असुपु-प्राणेषु रताः। प्राण पोषण परा उदरम्भरयः। स्वार्थी पेटू अपने प्राणों के मोह में पडे हुए।

७ देहात्मवादिनीं आश्रिताः छिन्धि भिन्धि पिव खाद परस्वम् अपहर इति एवं वदनशीलाः क्रूरकर्माणो भवन्ति। इति शं०।

३५१ महात्मानस्तु मां पार्थ ! दैवीं[1] प्रकृति माश्रिताः ।

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ।१३।

हे पार्थ ! (शम दम दया श्रद्धा आदि से युक्त) देवों के से स्वभाव वाले उदार चित्त लोग तो मुझ (ईश्वर) को भूतों का आदि कारण तथा अविनाशी जान कर और सब ओर से चित्त को हटाकर (एक मन हो) मेरा भजन करते हैं ।१३।

३५२ सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ-व्रताः ।

नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ।१४।

वे दृढ निश्चय वाले प्रयत्न शील निरन्तर भक्ति से मेरा कीर्तन करते और नमस्कार करते हुए, सदा ध्यान से युक्त हो, मेरी उपासना करते हैं ।१४।

३५३ ज्ञान-यज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।

एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम् ।१५।

और दूसरे (ज्ञान योगी) भी ज्ञान यज्ञ (तत्व ज्ञान) (अर्थात् श्रवण मनन निदिध्यासन रूप यजन) से अभेद भाव (ब्रह्म से भिन्न अन्य किसी सत्ता को न मान कर) तथा भेद भाव द्वारा (भिन्न २ देवताओं के रूप में स्थित) (अद्वैत तथा द्वैत आदि) अनेक प्रकार (के सिद्धान्तों) से सर्व स्वरूप (परमेश्वर) की उपासना करते हैं ।१५।



१ शम-दम-दया श्रद्धादि लक्षणाम् । इति शं० ।

३५४ [1]अहं क्रतुरहं यज्ञः [2]स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्य महमग्निरहं हुतम् ।१६।

मैं क्रतु (ज्योतिष्टोमादि श्रौत याग) हूं, मैं यज्ञ (पञ्च महायज्ञादि स्मार्त याग) हूं, मैं स्वधा (पितरों के निमित्त दिया अन्न) हूं मैं औषधि हूं, मैं मन्त्र हूं, मैं घृत हूं, मैं अग्नि हूं और होम भी मैं ही हूं ।१६।

३५५ पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम-यजुरेव च ।१७।

इस जगत् का पिता, माता, धारण करने वाला, पितामह, जानने योग्य वस्तु, पवित्र पदार्थ ओंकार, ऋग्वेद, साम वेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूं।१७

३५६ गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ।१८।

जीवों की क्रिया शक्ति, भरण पोषण करने वाला, नियन्ता, जीवों के कर्मों का प्रत्यक्ष देखने वाला, निवास स्थान सहारा, प्रत्युपकार न चाहने वाला, जगत को उत्पन्न और लय करने वाला, सभी का आधार कर्मों का भण्डार, अविनाशी कारण मैं हूं ।१८।

---

१ देव तथा पितरों के उद्देश्य से किये जाने वाले सब कर्म और उनके लौकिक वैदिक साधन सभी भगवान् कहते हैं कि मैं ही हूं। तात्पर्य यह कि यद्यपि वस्तुएं अनेक दीख रही हैं तथापि एक ही सत्ता के ये सब रूप हैं। नाम और रूप के अनेकत्व में भी वस्तु की सत्ता एक है। यही भाव गी० ४।२४ में भी आया है।

२ सर्वप्राणिभिः यद् अद्यते तद् औषध शब्द वाच्यम् इति शं० । औषधं-हविः इति रा० ।

३५७ तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च [1]सदसच्चाहमर्जुन ।१६।

हे अर्जुन! मैं तपाता (धूप को देता) हूं मैं वर्षा को रोकता हूँ और बरसाता हूं। मैं अमरता और मृत्यु हूं और मैं सत् हूं और असत् भी मैं ही हूं ।१६।

३५८ त्रैविद्या मां [2]सोमपाः पूत-पापा,
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्र लोक,
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देव भोगान् ।२०।

वेद के ज्ञाता (यज्ञों में) सोम पीने वाले निष्पाप लोग यज्ञों द्वारा मेरा (ईश्वर का) पूजन कर स्वर्ग प्राप्ति की प्रार्थना करते हैं। वे अपने पुण्य के फल स्वरूप इन्द्र लोक को पाकर स्वर्ग में दिव्य भोगों को भोगते हैं ।२०।

---

१ सद् यद् वर्तते, असद् यद् अतीतम् अनागतम् च। इति रा०।
अविनाशी आत्मा को सत् कहा गया है और नाशवान् अनित्य वस्तु मात्र का नाम असत् है। ये दोनों ही भगवान् के रूप हैं।

१ न पुनः अत्यन्त एव असत् भगवान् स्वयम्। कार्य कारणे वा सदसती ति शं

२ वैदिक क्रियाएं सारी ही फल प्राप्ति के लिये की जाती थीं। और उनमें से कई क्रियाओं में सोम पान किया जाता था। उसका यहां उल्लेख है। ये क्रियाएं क्या थीं, सोम रस क्या था. आज ठीक २ कोई नहीं ...

३५६ ते तं भुक्त्वा स्वर्ग-लोकं विशालं,
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयी-धर्म-मनु-प्रपन्ना,
गतागतं कामकामा लभन्ते ।२१।

वे उस विशाल, स्वर्गलोक को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर मृत्यु लोक में आते हैं। इस प्रकार वेदों में कहे हुए (सकाम) कर्मों का आश्रय लेने वाले कामना परायण लोग आवागमन को प्राप्त होते हैं, अर्थात् जन्म मरण के चक्र में पड़े रहते हैं।२१।

३६० अनन्या-श्चितयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्या-भियुक्तानां योग-क्षेमं वहाम्यहम् ।२२।

जो लोग किसी अन्य की भक्ति न कर केवल मेरे चिन्तन में लग मेरी (ईश्वर की) ही उपासना करते हैं। उन सदा मुझ (ईश्वर) में रत रहने वाले भक्तों का योग-क्षेम मैं चलाता हूँ अर्थात् जो उनके पास नहीं, वह देता हूँ और जो उनका है, उसकी रक्षा करता हूँ।२२।

---

२ योगः अप्राप्तस्य प्रापणं, क्षेमः तद्रक्षणम् इति शं।
मत्प्राप्ति लक्षणं योगम्, अपुनरावृत्ति रूपं क्षेमम् । इति रा० ।

३६१ येऽप्यन्य-देवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय [1]यजन्त्यविधि पूर्वकम्।२३।

हे अर्जुन! और भी जो अन्य देवताओं के भक्त श्रद्धा पूर्वक उनका पूजन करते हैं, वे भी अविधि पूर्वक अर्थात् अज्ञान पूर्वक मेरा ही पूजन करते हैं।२३।

३६२ अहं हि सर्व-यज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति [2]तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते २४।

मैं ही सब यज्ञों का भोक्ता और स्वामी हूं वे (अज्ञानी) यथार्थ रूप से मुझ (परमेश्वर) को नहीं पहचानते। इसलिये (सकाम कर्म करके पुण्य क्षय के बाद स्वर्ग से मृत्यु लोग में अथवा यज्ञ के असली फल से) गिर जाते हैं।२४।

३६३ यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।२५।

देवताओं की उपसना करने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों का श्राद्ध आदि करने वाले पितरों को पाते हैं, भूतों की पूजा करने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं।२५।

---

१ इन्द्रादीनां देवतानां कर्मसु अराध्यतया अन्वयं यथा वेदान्तवाक्यानि ("चतुर्होतारो यत्र संपदं गच्छन्ति देवै:" तै० आ० ४) इत्यादीनि विदधति, न पूर्वकं यजन्ते। इति रा०।
(भाव यह कि सभी देवता भगवान् के ही अंग हैं इस तत्व को न जानकर भगवान् से देवताओं को भिन्न समझना ही अविधि है।
२ वह अविधि क्या है, इसका उत्तर २४ वें श्लोक में है।

३६४ पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।२६।

जो पुरुष मेरे लिये पत्र पुष्प फल या जल भक्ति भाव से अर्पण करता है (उस) शुद्धबुद्धि वाले की भक्ति से की उस भेंट को मैं ग्रहण करता हूं ।२६।

३६५ यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।२७।

हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और तपस्या करता है । वे सब मेरे अर्पण कर ।२७।

३६६ शुभाशुभ फलैरेवं मोक्ष्यसे कर्म-बन्धनैः ।
संन्यास-योग-युक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ।२८।

इस प्रकार शुभ और अशुभ फल देने वाले कर्मों के बन्धन से छूट जायेगा और (कर्म) बन्धन से छूटा हुआ, [1]कर्म फल के त्याग रूप [2]कर्म करने की निपुणता वाला तू मुझ (ईश्वर) को प्राप्त होगा ।२८।

३६७ समोऽहं सर्व-भूतेषु न मेद्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ।२९।

मैं सभी प्राणियों में समान रूप से व्यापक हूं । मेरा न (कोई जाति आदि के कारण) अप्रिय और नहीं (कोई) प्रिय है । परन्तु जो भक्ति भाव से मेरा भजन करते हैं,वे मुझ में और मैं उनमें प्रत्यक्ष प्रकट रहता हूं ।२९।

---

१ काम्यानांकर्मणांन्यासं संन्यासं कवयो विदुः गी० १८।२।

२ योगः कर्मसु कौशलम् । गी० ।२।५०।

**३६८ अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।**
**साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।३०।**

चाहे. अत्यन्त दुराचारी भी अनन्यभाव से (और सब ओर से मन हटाकर ) मेरा (ईश्वर का) भजन करने लग जाय तो, उसे निश्चय साधु (सदाचारी) ही समझना चाहिये (क्योंकि) वह ठीक ओर चलने का निश्चय कर चुका है ३०

**३६९ क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।**
**कौन्तेय ! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।३१।**

बहुत जल्दी धर्मात्मा हो जाता है, सदा रहने वाली शान्ति को प्राप्त कर लेता है । हे अर्जुन ! भली प्रकार समझले, मेरा (ईश्वर) भक्त कभी नाश को प्राप्त नहीं होता ।३१।

**३७० मां हि पार्थ ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।**
**स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।३२।**

हे पृथा पुत्र अर्जुन । स्त्रियां, वैश्य, शूद्र और जिनका जन्म पाप (अर्थात शास्त्रीय नियमों तथा सामाजिक बन्धनों को तोड़कर व्यभिचार) से हुआ है । (अथवा जो (संसार में) पापोत्पत्ति का कारण हैं) वे भी मेरा आश्रय लेकर निश्चय ही उत्तम गति को प्राप्त कर लेते हैं ।३२।

---

१ बहुत से विद्वानों ने "पाप योनयः" को स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः" के साथ जोड़ा है परन्तु "इह कपूय चरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनि मापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा इत्यादि ( छा० उ० ५।१०।७ ) श्रुति में

३७१ किं पुन र्ब्राह्मणाः पुण्याः भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।३३।

फिर पुण्यात्मा ब्राह्मण और वैसे ही भक्त राजर्षियों (क्षत्रियों) का तो कहना ही क्या है । अतः इस अनित्य तथा सुख रहित लोक में मनुष्य जन्म पाकर तू मेरा भजन कर ।३३।

३७२ मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ।३४।

मुझ (परमेश्वर) में मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरी पूजा कर मुझे ही नमस्कार कर (इस प्रकार) मुझ में चित्त जोड़ कर मेरे आश्रय होने से तू निश्चय ही मुझ (ईश्वर) को प्राप्त कर लेगा ।३४।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग-शास्त्रे
श्री कृष्णार्जुन संवादे राज विद्या राज गुह्ययोगो नाम
॥ [1]नवमोऽध्यायः ॥

---

जहां पाप योनियों का वर्णन है, वहां उक्त तीनों को ही नहीं गिना गया अपितु "रमणीय चरणा अभ्याशो रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिय योनिं वा वैश्य योनिंवा । छा उ० ५।१०।७। यहां वैश्य को स्पष्ट ही पुण्य योनियों में गिना है। अतः श्रुति विरोध के भय से "पाप योनयः" को पृथक् मान "पापा योनिः येषां" अथवा पापस्य योनि ये दो अर्थ किये हैं ।

१ इस अध्याय के ये ३४ श्लोक श्रीकृष्णजी के कहे हुए हैं और आरम्भ से यहां तक कुल ३७२ श्लोक हुए हैं ।

## अथ दशमोऽध्यायः

श्री भगवानुवाच—

**३७३ भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।**

**यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हित-काम्यया ।१।**

श्री भगवान् बोले—

हे महाबाहु अर्जुन ! क्योंकि तुझे मेरी बातों से आनन्द आ रहा है (इसलिये) मैं तेरे हित के लिये फिर और बड़े रहस्य की बात कहूंगा । उसे सुन ।१।

**३७४ न मे विदुः सुरगणाः [1]प्रभवं न महर्षयः ।**

**अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ।२।**

न देवता और न ही महर्षि लोग मेरे प्रभाव (अथवा जन्म) को जानते हैं, क्योंकि मैं ही सब प्रकार से देवता और महर्षियों का आदि (कारण) हूं ।२।

**३७५ यो [2]माम-[3]जमनादिं च वेत्ति लोक-महेश्वरम् ।**

**[4]असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ।३।**

जो मुझे अजन्मा, अनादि और लोगों का सबसे बड़ा स्वामी समझता है । वह मनुष्यों में मोह रहित (पुरुष) सभी पापों से छूट जाता है ।३।

---



१ प्रभवं प्रभावं, रा० । प्रभवं प्रभावं अथवा उत्पत्तिम् इति शं० ।

३७६ बुद्धिर्ज्ञान-मसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं-दुःखं भवोऽभावो भयं चाभय मेव च ।४।

बुद्धि, ज्ञान, अमूढता, क्षमा, सत्य, इन्द्रिय-निग्रह, मनः संयम, सुख दुःख, उत्पत्ति, विनाश, भय और अभय ।४।

३७७ अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ।५।

अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, यश. अपश, (थे) भिन्न २ प्रकार के प्राणियों में उत्पन्न होनेवाले भाव मुझ (ईश्वर) से ही उत्पन्न होते हैं ।५।

---

३ श्लोककी टिप्पणी ।

२ न जायते इति अजः, अनेन विकारि-द्रव्याद् अचेतनात् तत्संसृष्टात् संसारि-चेतनात् बिजातीयत्वम् मुक्तम् इति रा० ।

३ अनादिम्-इति अनेन पदेन आदिमतः मुक्तात्मनः विसजातीयत्व मुक्तम् रा० ।

४ इतर सजातीयतया एकीकृत्य मोहः संमोहः, तद्रहितोऽसंमूढः इति रा० ।

३७८ महर्षयः [1]सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोके इमाः प्रजाः ।६।

पूर्व काल में मुझ (ईश्वर) में भावना वाले सात ( १ मरीचि २ अङ्गिरा, ३ अत्रि, ४ पुलस्त्य, ५ पुलह, ६ क्रतु, ७ वसिष्ठ) महर्षि और चार ( १ स्वायम्भुव, २ स्वारोचिष, ३ उत्तम, ४ तामस) मनु मेरे मन से उत्पन्न हुए हैं, जिनसे इस लोक में इन सब प्राणियों की उत्पत्ति हुई है ।६।

३७९ एतां [2]विभूतिं [3]योगं च मम यो वेत्ति तत्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ।७।

जो मेरी इस अनेक रूप में स्थिति और योग शक्ति को यथार्थ रूप से जान जाता है । इसमें सन्देह नहीं कि, वह निश्चल योग से युक्त हो जाता है ।७।

---

१ अस्माकमत्र पितरस्त आसन्त्सप्त ऋषयो दौर्गहे बध्यमाने ऋगवेद २-१२-८ ।
मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलह क्रतुः ।
विसिष्ट इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि ते । ६९ ।
प्रवृत्तिधर्मिणश्चैव प्राजापत्ये च कल्पिताः ७० । महा० शा० ३४०
सप्तैते सप्तभिश्चैव गुणैः सप्तर्षयः स्मृताः ।
१ दीर्घायुषो मन्त्रकृत ईश्वरा दिव्यचक्षुषः,
वृद्धाः प्रत्यक्षधर्माणो गोत्रप्रवर्तकाश्च ये । वायु पु० ६१।९१ ।

३८० अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भाव-समन्विताः ।८।

मैं सब (जगत) का कर्त्ता हूं , मुझ ( ईश्वर ) से सब ( जगत ) चेष्टा करने वाला होता है, यह जानकर बुद्धिमान् लोग श्रद्धा से युक्त होकर मेरा (ईश्वर का) भजन करते हैं ।८।

३८१ मच्चित्ता मद्गत प्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।९।

मुझ में मन लगाने वाले, मेरे लिये अपना जीवन अर्पण करने वाले एक दूसरे को आपस में (मेरे ज्ञान, सामर्थ्य और गुणों को) बतलाते हुए सदा सन्तुष्ट रहते तथा आनन्द करते हैं (अथवा इस संसार को खेल समझकर अपने सभी कर्तव्य कर्मों के खेल को खेलते रहते हैं) ।९।

३८२ तेषां सतत-युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि [1]बुद्धि-योगं तं येन मामुप-यान्ति ते ।१०।

उन प्रीति पूर्वक निरन्तर भजन करने वालों क मैं उस यथार्थ तत्व ज्ञान से युक्त कर देता हूं, जिससे वे मुझ (ईश्वर) को प्राप्त कर लेते हैं ।१०।

---

१ बुद्धिः सम्यग् दर्शनं मत्तत्त्व विषयं तेन योगो बुद्धियोगः इति शं ।

३८३ तेषा मेवानुकम्पार्थ-महमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञान-दीपेन भास्वता ।११।

उनके ऊपर दया करने के लिये ही, मैं उनके मन में रहता हुआ प्रकाशमय ज्ञान रूप दीपक से उनके अज्ञान जन्य अन्धकार को नाश कर देता हूं ।११।

अर्जुन उवाच —

३८४ परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्य मादिदेवमजं विभुम् ।१२।

३८५ [1]आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षि [2]नारदस्तथा।
[3]असितो देवलो [4]व्यासः [5]स्वयं चैव ब्रवीषि मे ।१३।

अर्जुन ने कहा—

आप परम ब्रह्म सर्व श्रेष्ठ आश्रय (वा तेज) और परम पवित्र हैं, सभी ऋषि, देवर्षि नारद, आसित, देवल, व्यास आपको सनातन दिव्य पुरुष, आदिदेव, अजन्मा तथा सर्वव्यापक कहते हैं और आपने स्वयं भी मुझे यहीं कहा है ।१२-१३।

---

१ ऋषयस्त्वां चमामाहुः सत्यं च पुरुषोत्तम । म० वन० अ० १२।२२।
२ साध्यानामपि देवानां शिवानामीश्वरेश्वर ।
भूतभावन भूतेश यथा त्वां नारदोऽब्रवीत् । म० वग० अ० १२।२४।
३ पूर्वेप्रजाभिसर्गे त्वामाहु रेकं प्रजापतिम् ।
स्त्रष्टारं सर्व लोकाना मसितो देवलोऽब्रवीत् । महा० वन० अ० १२।५२।
४ अव्यक्तः शाश्वतः कृष्णो हरि नारायणः प्रभुः हरि वं० अ० ६० । व्यासः
५ अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा । गी० ७।६ । स्वयं श्री कृष्णः ।

३८६ 'सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
नहि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ।१४।

हे केशव ! जो कुछ भी आपने कहा है, उसे मैं सब सत्य मानता हूं। हे भगवन् ! आपके लीलामय स्वरूप (अथवा प्रकट होने के प्रकार) को न देव जानते हैं और न ही दानव ही ।१४।

३८७ स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ।१५।

हे पुरुषोत्तम ! भूतों को उत्पन्न करने वाले ! प्राणियों के ईश्वर ! देवों के देव ! जगत् के स्वामी ! तुम स्वयं ही अपने द्वारा अपने आप को जानते हो ।१५।

३८८ वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्म-विभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ।१६।

आप अपनी उन दिव्य विभूतियों (अलौकिक चमत्कारिक शक्तियों) को पूर्णतया मुझ से कहें, जिन विभूतियों से आप इन लोकों में व्याप रहे हैं ।१६।

---

१३ वें श्लोक की टिप्पणी ।

देवल असित के पुत्र थे । कूर्मपुराण १६।४।

देवल एक पर्णा के पति और अपर्णा (पर्वती) के बिनोई थे ह०वं०अ० १८।

१ यथावस्थित वस्तु कथनं मन्ये, न प्रशंसाद्यभिप्रायम् । इति रा० ।

३८९ कथं विद्यामहं [1]योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन् मया ।१७।

हे योगी ! मैं तुम्हारा सदा किस प्रकार चिन्तन करता हुआ तुझे जानूं । हे भगवन् । किन २ भावों (पदार्थों) में मुझे तुम्हारा चिन्तन करना चाहिये ।१७।

३९० विस्तरेणात्मनो[2] योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्ति र्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ।१८।

हे जनार्दन ! अपने योग और विभूति को विस्तार से फिर कहिए, निश्चय ही आपके अमृत (रूप वचनों) को सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती ।१८।

श्री भगवानुवाच—

३९१ [3]हंत ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्म विभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ! नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ।१९।

श्री भगवान् बोले—

अच्छा पर, मैं तुझे अपनी मुख्य २ अलौकिक विभूतियों (चमत्कारों) को ही कहूँगा (क्योंकि) हे कुरु श्रेष्ठ अर्जुन ! मेरी विभूतियों के विस्तार का तो अन्त ही नहीं है ।१९।

---

१ अहं योगी इति, रा०। योगिन् इति शं०। ३ हंत इदानीम् शं० ।
२ योगैश्वर्यशक्ति विशेषं, विभूतिं च विस्तारं ध्येयपदार्थानामिति शं० ।

३६२ अहमात्मा गुडाकेश सर्व-भूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ।२०।

हे अर्जुन ! मैं सब प्राणियों के अन्तः करण में स्थित आत्मा हूं और मैं ही भूतों ( प्राणियों ) का आदि, मध्य, और अन्त भी हूं ।२०।

३६३ [1]आदित्यानामहं विष्णु र्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
[2]मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ।२१।

आदित्यों ( अदिति के १२ पुत्रों ) में मैं विष्णु हूं । प्रकाशमान पदार्थों में मैं किरणों वाला सूर्य हूं; ( दिति के ४६ पुत्र) मरुतों ( वायुओं ) में मैं मारीचि नाम का वायु हूं और नक्षत्रों में मैं चन्द्रमा हूं ।२१।

---

१ धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंशएव च ।
भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा ।१४।
एकादशस्तथा त्वष्ठा द्वादशो विष्णु रुच्यते ।
जघन्यजस्तु सर्वेषामादित्यानां गुणाधिकः ।१६। महा० आदि अ० ६५।

२ विष्णु पु० १ अंश अ० २१। वायु पु० ६७।१२३-१३०।

२ मरुद्देवता भेदानाम् इति शं० ।

२ वृष्ट्यावहवायूनां मरीचिः विद्युद्गर्भा मरुद् इति ह० ।

उदीर यथा मरुतः ! समुद्रतो यूयंवृष्टिं वर्षं यथा पुरीषिणः । ऋ० ५।५५।५

३६४ वेदानां [1]सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि [2]चेतना।२२।

वेदों में मैं साम वेद हूं, देवों में मैं इन्द्र हूं, इन्द्रियों में मैं मन हूं। और प्राणियों में मैं (जीवन शक्ति) चेतना हूं।२२।

३६५ [3]रुद्राणां शंकराश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
[4]वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्।२३।

एकादश रुद्रों में मैं शङ्कर (शम्भुः) हूं। यक्ष और राक्षसों में मैं धन का स्वामी कुवेर हूं। आठ वसुओं में मैं अग्नि हूँ और शिखर वालों में मैं मेरु पर्वत हूं।२३।

---

१ मीमांसा के "गीतिषु सामाख्या (मी० २।१।३६) इस सूत्र के अनुसार जो मन्त्र गाय जा सकते हैं उन्हें साम कहा गया है, भगवान् आनन्द स्वरूप हैं और गाना आनन्द का सूचक है इससे भक्त तन्मय हो जाते हैं और स्तुति द्वारा भगवान् को रिझाते हैं। इसलिये भगवान् ने वेदों में सामवेद को अपना स्वरूप कहा है।

२ कार्यकरणसंघाते नित्याभिव्यक्ता बुद्धिवृत्तिः चेतना इति शं०।

३ हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्चापराजितः।
वृषाकपिश्च शम्भुश्च कपर्दी रैवतस्तथा।
मृगव्याधश्च शर्वश्च कपाली च विशांपते।
एकादशैते कथिता रुद्रास्त्रि भुवनेश्वराः। ह० वं० १।३।५१-५२।

४ धरो ध्रुवश्च सोमश्च अहश्चैवानिलोऽनलः।
प्रत्युषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः। म० अ० ६६।१८।

३६६ पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीमहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ।२४।

हे पार्थ ! तू मुझे पुरोहितों में मुख्य बृहस्पति जान और मैं सेनापतियों में कार्तिऽकेय तथा जलशायों में सागर हूं ।२४।

३६७ [1]महर्षीणां भृगुरहं [2]गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां [3]जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां [4]हिमालयः ।२५।

मैं महर्षियों में भृगु, वाणियों में एक अक्षर (ओंकार), यज्ञों में जप यज्ञ, और अचल पदार्थों में हिमायल हूं ।२५।

---

१ भृगुर्मरीचि रत्रिश्च अङ्गिराः पुलहः क्रतुः ।
मनुर्दक्षो वसिष्ठश्च पुलस्त्यश्चेति ते दश।
ब्रह्मणो मानसा ह्येत उद्भूताः स्वयमीश्वराः
प्रवर्तत ऋषेर्यस्मान् महांस्तस्मान्महर्षयः । वा० प्र५ ५१।८९-९०
२ ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म । गी० ८।१३ ओमिति ब्रह्म । तै० ३१।८
गीरां वाचां पद् लक्षणानां एकं अक्षरं ओंकारः अस्मि । इति शं०
एकाक्षरं परं ब्रह्म । मनु २।८३ । इत्यत्र एकाक्षरमोंकारः इति कुल्लुकः
३ विधि यज्ञाज्जप यज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ८५।
ये पाक यज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञ समन्विताः ।
सर्वे ते जप यज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् । मनु० २।८६।
४ अचल पदार्थों में हिमालय का नाम भगवान् ने इसलिये लिया है कि संसार भर में इससे बड़ा और कोई पर्वत नहीं है इससे स्पष्ट है कि आज से ५००० वर्ष पहले भी भारतीय जानते थे कि हिमालय संसार के सभी पर्वतों से बड़ा है ।

३९८ अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः।२६।

मैं सब वृक्षों में पीपल, देवर्षियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ, और सिद्धों में कपिल मुनि हूं।२६।

३९९ उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्।२७।

घोड़ो में अमृत (मन्थन-समय समुद्र से) उत्पन्न हुए उच्चैश्रवा, हाथियों में (इन्द्र का) ऐरावत हाथी और मनुष्यों में नर पालक वा राजा, को मेरा रूप जान।२७।

४०० आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः [1]सर्पाणामस्मि वासुकिः।२८।

शस्त्रों में मैं (इन्द्र का शस्त्र) वज्र हूं, गौओं में मैं कामधेनु हूं। प्रजा को उत्पन्न करने वाला काम देव मैं हूं और एक सिर वाले सर्पों में मैं वासुकि हूं।२८।

४०१ अनन्तश्चास्मि [2]नागाणां वरुणो यादसामहम्।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्।२६।

मैं अनेक सिर वाले नागों में अनन्त (शेष नाग) हूं जल चरों में वरुण हूं पितरों में अर्यमा हूं और दण्ड देने वालों में यम मैं हूं।२६।

---

१ सर्पाः एक शिरसः। रा०। २ नागा बहु शिरसः इति रा०।
कव्यवाहोऽनलः सोमो यमश्चैवार्यमा तथा।
अग्निष्वाता वर्हिषद् स्त्रयश्चान्त्या ह्यमूर्तयः। शिव पु० धर्म ६३।२।

४०२ प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।

मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ।३०।

दैत्यों में मैं प्रह्लाद हूं, गणना करने वालों में मैं काल हूँ, जंगली पशुओं में मैं सिंह हूं और पक्षियों में गरूड़ मैं हूं ।३०।

४०३ [1]पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।

झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ।३१।

पवित्र करने वालों में मैं वायु हूं, शस्त्रधारण करने वालों में श्री रामचन्द्र मैं हूं मछलियों में मगर मच्छ मैं हूं, और नदियों में जाह्नवी (गंगा) हूँ ।३१।

४०४ सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाह-मर्जुन ।

अध्यात्म-विद्या विद्यानां वादः प्रवदता-महम् ।३२।

हे अर्जुन (सभी) सृष्टियों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय मैं हूं । मैं विद्याओं में ब्रह्मविद्या और बोले जाने वाले (वाद, जल्प और वितण्डा) वाक्यों में वाद नाम का वाक्य मैं हूं ।३२।

---

१ पवतां पावयितॄणाम् इति शं० । पवतां गमन स्वभावानाम् इति रा० ।

२ जल्प-वितण्डादि कुर्वतां तत्त्व निर्णयाय प्रवृत्तो वादः यः स अहम् इति रा० ।

४०५ अक्षराणामकारोऽस्मि [1]द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।

अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतो-मुखः ।३३।

मैं अक्षरों में (अ) अक्षर हूं, समासों में द्वन्द्व समास हूं, मैं ही अविनाशी काल हूं और सभी ओर मुखों वाला, सबको धारण करने वाला भी मैं ही हूं ।३३।

४०६ मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।

कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ।३४।

सबका नाश करने वाली मृत्यु मैं हूं और भविष्य में होने वाला उत्कर्ष अथवा जन्म मैं हूँ । स्त्रियों में कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं हूं ।३४।

४०७ बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छंदसामहम् ।

मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ।३५।

गाई जाने वाली (रथन्तर, वाम देव्य, बृहद् आदि) श्रुतियों में मैं बृहत साम हूं । ("गायत्र्यु ष्णिगनुष्टु ब्बृहती पङ्क्ति त्रिष्टुब् जगति" इन वैदिक सात )छन्दों में मैं गायत्री छन्द हूं । मासों में मैं मार्गशीर्ष मास और ऋतुओं में वसन्त ऋतु मैं हूँ ।३५।

---

१ द्वन्द्व समासः अहम्, स हि उभय पदार्थ प्रधानत्वेन उत्कृष्टः इति रा० ।

४०८ [1]द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मिव्यवसायोऽस्मि, सत्वं सत्ववता-महम् ।३६।

छलने वालों में द्यूत मैं हूँ, तेजास्वियों में तेज मैं हूँ, मैं जय हूं, मैं उद्यम वा निश्चय हूं, मैं सत्य गुण वालों में सत्व गुण अथवा साहस वालों में साहस हूं ।३६।

४०६ वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीना-मुशना कविः ।३७।

वृष्णिवंशियों में मैं वासुदेव (कृष्ण) हूं, पाण्डवों में मैं अर्जुन हूं मुनियों में मैं कृष्णद्वैपायण व्यास हूँ और कवियों में मैं शुक्राचार्य हूं ।३७।

४१० दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ।३८।

शासन करने वालों का दण्ड मैं हूँ, जीतने की इच्छा रखने वालों की मैं नीति हूँ। गुप्त बातों में मौन मेरा रूप है और ज्ञानियों का ज्ञान मैं हूं ।३८

४११ यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम् ।३६।

हे अर्जुन जो सब प्राणियों का बीज है, वह मैं हूँ । वह कोई स्थावर या जंगम वस्तु नहीं जो मेरे बिना हो ।३६।

---

१ गीतामृत पृ० xxxviii देखें ।

४१२ नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।४०।

हे परतप अर्जुन ! मेरी (ईश्वर की) अद्भुतविभूतियों (चमत्कारों) का अन्त नहीं है। यह विभूतियों (विविध भाव से प्रकट होने) का विस्तार जो मैं ने तुम्हें कथन किया है, यह तो संक्षेप मात्र है।४०।

४१३ यद्यद्विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽश-संभवम्।४१।

जो २ वस्तु ऐश्वर्य युक्त, शोभा युक्त, तथा प्रभाव युक्त है। वह वह मेरे (ईश्वर के) तेज के अंश से ही उत्पन्न हुई हैं, ऐसा तू जान। ४१।

४१४ अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं [1]कृत्स्न-मेकांशेन स्थितो जगत्।४२।

अथवा हे अर्जन ! इस बहुत जानने से क्या है। मैं (ईश्वर) इस सम्पूर्ण जगत को (अपने) एक अंश में धारण कर के स्थित हूँ ।४२।

इति श्रीमद्भगवद्गीता-सूपनिषद्यात्सु ब्रह्मविद्यायां योग-शास्त्रे
श्री कृष्णार्जुन संवादे विभूति योगो नाम

॥ [2]दशमोऽध्यायः ॥

---

१ पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि। ऋ० १०।९०।३।

२ इस अध्याय में अर्जुन ने ७ और श्रीकृष्ण ने ३५ श्लोक कहे हैं। और आरम्भ से यहां तक कुल ४१४ श्लोक हुए हैं।

# अथ एकादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

**४१५ मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्म-संज्ञितम् ।**
**यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ।१।**

अर्जुन बोला—

आपने मुझ पर अनुग्रह करने के लिये अध्यात्म (आत्मा अनात्मा के विवेचन) विषयक परम रहस्य की जो बात कही, उससे मेरा मोह दूर हो गया ।१।

**४१६ भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।**
**त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाऽव्ययम् ।२।**

हे कमल के समान नेत्रों वाले ! मैंने तुमसे विस्तार पूर्वक जड़ चेतन की उत्पत्ति तथा विनाश सुने और कभी कम न होने वाली (आपकी) महिमा भी सुनी है ।२।

**४१७ एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ! ।**
**द्रष्टुमिच्छामि ते [1]रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ।३।**

हे परमेश्वर ! जैसा तुम अपने को कहते हो, वह ठीक वैसा ही है हे पुरुषोत्तम ! मैं तुम्हारे ईश्वरीय रूप को देखना चाहता हूं ।३।

---

१ ज्ञानैश्वर्य शक्ति बल वीर्य तेजोभिः संपन्नम् । इति शं० ।

४१८ मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ! ।
योगेश्वर ! ततो मे त्वं दर्शयात्मान-मव्ययम् ।४।

हे प्रभो ! यदि आप समझते हैं, कि मुझ से वह विश्वरूप देखा जा सकेगा, तो योगेश्वर ! मुझे अपना अविनाशी रूप दिखलाईये ।४।

श्री भगवानुवाच—

४१९ पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नाना-विधानि दिव्यानि नाना-वर्णा-कृतीनि च ।५।

श्री भगवान् बोले—

हे पार्थ ! मेरे नाना प्रकार के अलौकिक कई वर्णों और अनेक आकृतियों वाले सैकड़ों तथा हजारों रूप देख ।५।

४२० पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्य-दृष्ट-पूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ! ।६।

हे भारत ! आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, दोनों अश्विनी कुमारों और मरुद्गणों को देख तथा बहुत सी ऐसी अद्भुत बातें भी देख जो पहले कभी न देखी हों ।६।

४२१ इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचाचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टु-मिच्छसि ।७।

हे अर्जुन ! सम्पूर्ण चराचर जगत को तथा और भी तू जो कुछ देखना चाहता है, आज यहां मेरे शरीर में एक ही जगह स्थित देखले ।७।

४२२ न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।

[1]दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योग-मैश्वरम् ।८।

निश्चय ही अपनी इन आंखों से तू मुझे नहीं देख सकेगा, इसलिये मैं तुझे दिव्य-चक्षु देता हूं, उनसे तू मेरी ईश्वरीय योग समर्थ को देख ।८।

संजय उवाच—

४२३ एव-मुक्त्वा ततो राजन् ! महायोगेश्वरो हरिः ।

दर्शयामास पार्थाय परमं रूप-मैश्वरम् ।६।

संजय ने कहा—

हे राजन् (धृतराष्ट्र) ! इस तरह कहने के बाद महायोगेश्वर श्री कृष्ण ने अर्जुन को परम श्रेष्ठ ईश्वरीय रूप दिखलाया ।६।

४२४ अनेक-वक्त्र-नयन-मनेकाद्भु त-दर्शनम् ।

अनेक-दिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ।१०।

अनेक मुख और नेत्रों वाले, अनेक अद्भुत दर्शनों वाले अनेक दिव्य भूषणों को धारण किये हुये और अनेक दिव्यास्त्र लिये हुए ।१०।

---

१ दिव्य दृष्टि—स्वप्न में आंखों के बन्द रहने पर भी भान्ति २ के दृश्य देखने का अनुभव सभी को है। यदि कोई महापुरुष अपनी शक्ति के प्रभाव से किसी व्यक्ति में जाग्रत अवस्था में भी उसी तरह का सामर्थ उत्पन्न कर दे तो शायद वही दिव्य दृष्टि कहलायेगी। इसमें स्वप्नावस्था की तरह थान की दूरी का कोई ख्याल नहीं। यह दृष्टि व्यास जी ने संजय को और श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दी थी। स्वप्न झूठा भी और यह सच्ची ही होती है।

४२५ दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतो-मुखम् ।११।

दिव्य माला और वस्त्र पहने हुए, दिव्य गन्ध लगाये हुये, सब प्रकार से आश्चर्यमय, असीम (ओर छोर रहित) सब ओर मुखों वाले देव (प्रकाश स्वरूप) को (अर्जुन ने देखा) ।११।

४२६ दिवि सूर्य-सहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ।१२।

यदि आकाश में एक हजार सूर्यों का एक साथ प्रकाश हो जाय तो भी शायद ही उस महात्मा (विराट रूप कृष्ण) के तेज के समान हो सके ।१२।

४२७ तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्त-मनेकधा ।
अपश्यद् देवदेवस्य शरीरे पाण्डुवस्तदा ।१३।

उस समय पाण्डु पुत्र (अर्जुन) ने देवों के देव (श्री कृष्ण जी) के शरीर में एक जगह स्थित अनेक प्रकार से विभक्त हुए समस्त जगत को देखा ।१३।

४२८ ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ।१४।

तब [ऐसा देख] वह आश्चर्य से चकित और रोमांचित (अर्थात हैरानी से जिसके शरीर के रोंगटे खड़े हो गये हैं) अर्जुन श्री कृष्ण को सिर झुका, प्रणाम करके हाथ जोड़ कर कहने लगा ।१४।

अर्जुन उवाच —

४२९ पश्यामि देवांस्तव देव देहे,

सर्वांस्तथा भूतविशेष संघान् ।

ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-

मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ।१५।

अर्जुन ने कहा–

हे देव ! मैं आपके शरीर में समस्त देवों, सम्पूर्ण स्थावर तथा जंगम भूतों के समुदायों, कमलासन पर बैठे प्रजा के स्वामी ब्रह्मा, सभी ऋषियों और दिव्य सर्पों को देख रहा हूँ ।१५।

४३० अनेक बाहूदर-वक्त्र-नेत्रं,

पश्यामि त्वा सर्वतोऽनन्त-रूपम् ।

नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं,

पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ।१६।

हे विश्व के स्वामी ! मैं आपको अनेक भुजा, अनेक पेट, अनेक मुख, अनेक नेत्रों से युक्त और सब ओर से अनन्त रूपों वाला देखता हूँ। हे विश्व रूप ! (यह विश्व आपका ही रूप है) आपका न अन्त है, न मध्य है, और न हीं फिर कोई आदि है ।१६।

४३१ किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च,
तेजो राशिं सर्वतो दीप्ति-मन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्,
दीप्तानलार्क द्युतिमप्रमेयम् ।१७।

मुकुट पहने हुए, हाथों में गदा और चक्र लिये, तेजः पुञ्ज और सब ओर से प्रकाशमान, ( जिस पर ) नजर टिकाना बड़ा कठिन है, उस चारों ओर चकाचौंध उत्पन्न करनेवाली आग तथा सूर्य के समान अपरिमित ( ओर छोर रहित ) तुझ को मैं देख रहा हूँ ।१७।

४३२ त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं,
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वत-धर्म-गोप्ता,
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ।१८।

तुम जानने योग्य परम ब्रह्म हो, तुम इस विश्व के अन्तिम आधार हो, तुम अविनाशी हो, नित्य धर्म के रक्षक हो, तुम अनादि पुरुष हो, मैं ऐसा मानता हूँ ।१८।

४३३ अनादि मध्यान्त-मनन्त-वीर्य,

मनन्त बाहुं शशि-सूर्य-नेत्रम् ।

पश्यामि त्वां दीप्त-हुताश वक्त्रं,

स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ।१६।

आदि मध्य और अन्त रहित, अनन्त शक्ति शाली, असंख्य भुजाओं से युक्त, चान्द और सूर्य रूप नेत्रों तथा प्रज्वलित अग्नि रूप मुख वाले अपने तेज से विश्व को तपाते हुए आपको मैं देख रहा हूँ ।१६।

४३४ द्यावा पृथिव्यो-रिदमन्तरं हि,

व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।

दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं,

लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ।२०।

हे महात्मन्! सूर्यलोक और पृथ्वी के बीच के अन्तर तथा सभी दिशाओं को एकेले आपने ही घेरा हुआ है। यह आपका विस्मय जनक भयंकर रूप देखकर तीनों लोक घबरा रहे हैं ।२०।

४३५ अमी हि त्वा सुर-सङ्घाः विशन्ति,
केचिद्-भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
*स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षि-सिद्ध-सङ्घाः,
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ।२१।

ये देवों के समूह आप में प्रविष्ट हो रहे हैं तथा कुछ भय भीत होकर हाथ जोड़े हुए स्तुति कर रहे हैं और महर्षि तथा सिद्धों (मुनियों) के झुंड के झुंड विश्वका कल्याण हो, यों कहकर बहुत से स्तोत्रों द्वारा आप की स्तुति कर रहे हैं ।२१।

४३६ [1]रुद्रादित्या वसवो ये च [2]साध्या,
[3]विश्वेऽश्विनौ [4]मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्व-यक्षासुर-सिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ।२२।

और जो ११ रुद्र, १२ आदित्य, ८ वसु, १२ साध्य, १० विश्व देव २ आश्विनी कुमार, ४९ मरुत् उष्मप (पितर) गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धों (देव विशेष) के समु दाय हैं, ये सभी चकित हुए २ आपको देख रहे हैं ।२२।

---

*स्वतीति चो क्त्वैव महर्षि संघाः ।पाठान्तरं ।

१ रुद्र, आदित्य, वसु इनके नाम १० अध्याय के २१वें श्लोक की टिप्पण में देखें

२ मनोऽनुमन्ता प्राणश्च नरोयानश्च वीर्यवान् । चित्तिर्हयो नयश्चैव हंसो नारायणस्तथा प्रभवोऽथ विभुश्चैव साध्य द्वादश जज्ञिरे। वायुपुराण ६६।१५-१६।

४३७ रूपं महत्ते बहुवक्त्र नेत्रं,
महाबाहो बहु-बाहूरु-पादम् ।
बहूदरं-बहु-दंष्ट्रा-करालं,
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ।२३।

हे महाबाहो ! आपके बहुत से मुखों और नेत्रों वाले, बहुत सी भुजाओं, जंघाओं और पैरों वाले, बहुत से उदरों वाले तथा भंयकर दाढ़ों वाले, इस बहुत बड़े स्वरूप को देखकर सब लोक घबरा रहे हैं और मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ ।२३।

४३८ नभः स्पृशं दीप्त-मनेक-वर्णं,
व्यात्ताननं दीप्त-विशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा,
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ।२४।

आकाश को छूने वाले, प्रकाशमान अनेक वर्णों से युक्त तथा मुख को फैलाय हुए बड़ी २ चमकीली आंखों वाले, आपको देखकर मेरा अन्तःकरण बहुत ही घबरा गया है । हे विष्णो ! (अब) न मुझे धैर्य प्राप्त होता है और न शान्ति ही मिलती है ।२४।

२२ वें श्लोक की टिप्पणी ।

३ विश्वेदेवास्तु विश्वायाजेज्ञिरे दश विश्रुताः । क्रतु दक्षः श्रवः सत्यः कालः कामोधुनिस्तथा कुरुवान् प्रभवांश्चैव रोचमानश्च ते दश वा०यु०प्र० ६६।३१-३२

४ शुकालिनो बर्हिषद् ऊष्मपा आज्यपास्तथा पितृ गणा नायांस्मृति वा०प०

४३९ दंष्ट्रा करालानि च ते मुखानि,
दृष्ट्वैव कालानल संनिभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म,
प्रसीद देवेश जगन्निवास ! ।२५।

भयंकर दाढों से युक्त, प्रलय काल की अग्नि के समान आपके मुखों को देख कर न मुझे दिशाएं सूझती हैं (मुझे दिग्विमोह हो रहा है अर्थात् मेरे होश उड़ गये हैं) और न ही मुझे चैन ही आता है। अतः देवाधिदेव, जगदाधार प्रसन्न हूजिये ।२५।

४४० अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपाल-संघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूत पुत्रस्तथासौ,
[1]सहास्मदीयैरपि योध-मुख्यैः ।२६।

राजाओं के समूह के साथ ये सभी धृतराष्ट्र के पुत्र, भीष्म, द्रोण और वह कर्ण साथ ही हमारे प्रधान योधा भी आपकी (ओर आ) ।२६।

१ महाभारत युद्ध की समाप्ति के दिन १८ अक्षोहिणी सेना में से पांच पाण्डव, श्री कृष्ण और सात्यकि ये ७ पांण्डव पक्ष के तथा अश्वत्थामा कृत वर्मा और कृपाचार्य ये ३ कौरव पक्ष के-केवल यही १० व्यक्ति बचे थे यथा—सप्त पाण्डवाः शेषा धार्त्तराष्ट्रा स्त्रयो वयम् ।४८।
ते चैव भ्रातरःपञ्च वासुदेवोऽथ सात्यकि : ।
अहं च कृतवर्मा च कृपः शाद्वलस्तथा । य० सौप्ति प० ६।४९।
(अहं अश्वत्थामा इत्यर्थः । )

४४१ वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति,
दंष्ट्रा-करालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु,
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ।२७।

आपके भयंकर दाढों वाले मुख में धड़ाधड़ पड रहे हैं और कुछ कुचले हुए सिरों वाले आपके दान्तों के बीच फंसे हुए दीख रहे हैं।२७।

५४२ यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः,
समुद्र-मेवाभि-मुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोक-वीरा,
विशन्ति वक्त्रा-ण्यभि-विज्वलन्ति ।२८।

जैसे नदियों के बहुत से प्रवाह समुद्र की ओर चले जाते हैं, वैसे ही मृत्यु लोक के ये वीर आपके प्रज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं।२८।

४४३ यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा,
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ।२९।

जैसे जलने के लिये बड़े वेग से पतंग जलती हुई आग में जा गिरते हैं। वैसे ही (ये) लोग मरने के लियेबड़ी तेजी से आपकेमुख मेंप्रवेश कर रहे हैं।२९

४४४ लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-

ल्लोकान् समग्रान् वदनै-र्ज्वलद्भिः ।

तेजोभिरापूर्य जगत्-समग्रं,

भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ।३०।

आप सब ओर से सभी लोगों को देदीप्यमान मुखों से निगलते हुए चाट रहे हैं। विष्णो! आपकी तीक्ष्ण प्रभाएं अपने तेज से सब जगत् में फैलकर तप रही हैं अर्थात् चमक रही हैं ।३०।

४४५ आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो

नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।

विज्ञातु-मिच्छामि भवन्त-[1]माद्यं;

न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ।३१।

देवों श्रेष्ठ! आपको नमस्कार हो, कृपा करके बतलाईये कि आप उग्र रूप वाले कौन हैं, सब ओर से खाने को प्रवृत्त हुए आपको व आप आदि पुरुष को जानना चाहता हूँ, निश्चय ही मैं आपकी इन चेष्टाओं को नहीं जानता ।३१।

---

१ आ = समन्ता अतुं प्रवृत्तं इति के आदौ भवं आद्यमिति । शं०

श्रीभगवानुवाच—

४४६ कालोऽस्मि लोकक्षय कृत्-प्रवृद्धो,

लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।

ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे,

येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ।३२।

श्री भगवान् बोले—

मैं लोगों का नाश करने वाला बढ़ा हुआ काल हूँ, यहां लोगों का संहार करने के लिए आया हूँ। तेरे (युद्ध करनेके) बिना भी (ये) सब जो प्रति पक्ष सेना में खड़े हुए योद्धा हैं, (वे) न रहेंगे ।३२।

४४७ तस्मात् त्व-मुत्तिष्ठ यशो लभस्व,

जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।

मयैवैते निहताः पूर्वमेव

निमित्तमात्रं भव सव्य-साचिन् ।३३।

इस लिये उठ, यश प्राप्त कर, शत्रुओं को जीत कर समृद्ध (धन धान्य से पूर्ण) राज्य का उपभोग कर (अपने अपराधों के कारण) मेरे द्वारा ये पहिले ही मारे जा चुके हैं। हे सव्यसाची (बांयें हाथ से भी वाण चलाने वाले अर्थात् युद्ध में दोनों हाथों से वाण चला सकने वाले) अर्जुन ! तू केवल मारने का निमित्त बन जा ।३३।

४४८ द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथा-न्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ।३४।

मुझसे मारे हुए द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा और वीर योधाओं को तू मार, घबरामत, युद्ध कर, तू शत्रुओं को अवश्य जीतेगा ।३४।

संजय उवाच—

४४९ एतच्छ्रुत्वा वचनं केवशस्य
कृताञ्जलि वेंपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीत-भीतः प्रणाम्य ।३५।

संजय ने कहा—

भगवान् श्री कृष्ण के ये वचन सुनकर मुकुटधारी अर्जुन हाथ जोड नमस्कार कर काम्पते हुए, झुककर डरते २ गद् गद् (भराई हुई) स्वर से फिर श्री कृष्ण जी को कहने लगा ।३५।

अर्जुन उवाच—

**४५० स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या,**

**जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।**

**रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति,**

**सर्वे नमस्यन्ति च सिद्ध-सङ्घाः।३६।**

अर्जुन बोला–

हे हृषीकेश! यह उचित ही है, कि आपके यश कीर्तन से सांसारिक लोग प्रसन्न होते और उसमें अनुराग करते हैं, राक्षस डर कर इधर उधर दिशाओं को भागते हैं और सिद्धों के समूह आपको नमस्कार करते हैं।३६।

**४५१ कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन्!**

**गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।**

**अनन्त! देवेश! जगन्निवास!**

**त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्।३७।**

हे महात्मन्! वे आपको कैसे नमस्कार न करें? आप सबसे बड़े और (सृष्टि कर्त्ता) ब्रह्मा के भी आदि कारण हैं।. हे अन्त रहित, देवाधिदेव, जगदाधार! सत, असत और (उन दोनों से) परे जो अक्षर ब्रह्म है, वह आप ही हैं।३७।

४५२ त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण

स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।

वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम

त्वया ततं विश्वमनन्त रूप ! ।३८।

आप आदि देव पुरातन पुरुष हैं, आपही इस जगत् के अन्तिम आधार हैं। आप जानने वाले (ज्ञाता) हैं और आप ही जानने योग्य (ज्ञेय) भी हैं। आप परमधाम (सर्वोत्कृष्ट प्राप्ति स्थान वा तेजोमय) हैं। हे अनन्तरूपों वाले ! आप से यह जगत व्याप्त हो रहा है ॥३८॥

४५३ वायु-र्यमोऽग्नि र्वरुणः शशाङ्कः,

प्रजापतिस्त्वं [1]प्रपितामहश्च ।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्र-कृत्वः,

पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ।३९।

आप वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र, प्रजापति और प्रपितामह (परदाता) हैं, आपको नमस्कार हो, हजार बार नमस्कार हो, और फिर बार २ नमस्कार हो ॥३९॥

---

१ सर्वेसां प्रजानां पितरः प्रजापतयः. प्रजापतीनां पिताहिरण्यगर्भः प्रजानां पितामहः, हिरण्यगर्भस्य अपि पिता त्वं प्रजानां प्रपितामहः । इति रा० ।

४५४ [1]नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते,
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्या-मित-विक्रमस्त्वं,
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ।४०।

हे सर्वस्वरूप ! आप अनन्त शक्ति शाली तथा अति पराक्रमवान् हैं, आपके आगे, पीछे, नमस्कार हो, आपके सभी ओर नमस्कार हो, आप समस्त संसार में व्याप रहे हैं, इसलिये सर्व स्वरूप (सभी कुछ) हैं ।४०।

४५५ सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं,
मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ।४१।

मैंने आप की यह महिमा न जानते हुए, भूल वा प्यार से मित्र जानकर अरे कृष्ण ! ओ यादव ! हे सखे ! इस प्रकार जो भी अविनीत ( अवज्ञा करने वाले, बरावरी के सम्बोधनों से ) बुलाया है ।४१।

---

१ अर्जुन भगवान् को सब ओर व्यापक समझने लगा जैसा कि कहा है–
ब्रह्मैवेदं अमृतं पुरस्तात् ब्रह्म पश्चात् दक्षिणत श्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्। मु० २-२-११ श्वा० ७।१५

४५६ यच्चावहासार्थ-मसत्कृतोऽसि,
विहार-शय्यासन-भोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं,
तत् क्षामये त्वामहम-प्रमेयम् ।४२।

और चलते-फिरते, सोते-बैठते, या खाते समय एकान्त में वा सभी के सामने उपहास (हंसी) के लिये जो अपमान किया है। हे अच्युत ! उसे क्षमा कराने के लिये अपरमित (अत्यन्त) उदारता वाले, मैं आपसे विनय करता हूँ ।४२।

४५७ पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य,
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत् समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो;
लोक-त्रयेऽप्यप्रतिम-प्रभाव ।४३।

हे अनुपम प्रभाव शालिन् ! आप इस चराचर जगत् के पिता (उत्पन्न करने वाले) हैं, आप इसके पूज्य हैं, गुरु हैं और बड़ों से भी बड़े हैं। तीनों लोकों में भी आपकी बराबरी का दूसरा कोई नहीं, (फिर) अधिक तो हो ही कैसे सकता है ? ।४३।

४५८ तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं,
प्रसादये त्वा-महमीश मीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
[1]प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ।४४।

इसलिये मैं शरीर झुकाकर (दण्डवत) प्रणाम करके आप स्तुति योग्य जो ईश्वर हैं आप से प्रसन्न होने की प्रार्थना करता हूं। पिता जैसे पुत्र के, मित्र जैसे मित्र के, और पति पत्नी के (अपराधों=भूल चूकों को) सहन करता हैं वैसे ही हे देव! आप मेरे (अपराध) सहन करने योग्य हैं अर्थात् क्षमा करदें ।४४।

४५९ अदृष्ट-पूर्वं हृषितोऽस्मिदृष्ट्वा,
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं,
प्रसीद देवेश! जगन्निवास! ।४५।

हे देवाधिदेव, जगदाधार! पहले न देखे हुए (विश्वरूप) को देखकर मैं प्रसन्न हुआ हूं, पर मेरा मन भय से व्याकुल (भी) हो रहा है हे देव! प्रसन्न हूजिये और मुझे वही रूप दिखाईये ।४५।

---

१ त्वं परमकारुणिकः- प्रियः- प्रियाय मे ति रा०। प्रियाया अपराधं प्रियः क्षमते इति शं०।

४६० किरीटिनं गदिनं [1]चक्र-हस्त,
मिच्छामि त्वां द्रुष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण [2]चतुर्भुजेन,
सहस्रबाहो भव विश्व-मूर्ते ।४६।

मैं आपको मुकुट पहने, गदा और चक्र हाथों में लिये हुए, वैसे ही (अर्थात् पहले की तरह ही) देखना चाहता हूँ (अतः) हे सहस्र बाहु सर्व स्वरूप! आप उस चतुर्भुज रूप में ही प्रकट हूजिये ।४६।

श्री भगवानुवाच—

४६१ मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं,
रूपं परं दर्शितमात्म-[3]योगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्त-माद्यं
यन्मे त्वदन्येन न [4]दृष्ट-पूर्वम् ।४७।

श्री भगवान् बोले—

हे अर्जुन! मैंने प्रसन्न होकर अपनी योग शक्ति से तुझे सबका आदि, सीमा रहित अपना यह श्रेष्ठ तेजोमय रूप दिखलाया है, जिसे तेरे सिवाय किसी ने पहले कभी नहीं देखा ।४७।

---

१ गीतामृत पृ० xxxix देखें।

२ संवत् १२३६ की लिखी श्री जीवाराम कालीदास द्वारा प्रकाशित गीता के पृष्ठ ६५ पर इस श्लोक के उत्तरार्द्ध का यों पाठ है—
तेनैव रूपेण भुजद्वयेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ।४४। परन्तु इससे बहुत प्राचीन काल के सभी आचार्यों ने चतुर्भुजेन ही पाठ ठीक माना है।

४६२ न वेद-यज्ञाध्ययनै र्न दानै
र्न च क्रियाभि र्न तपोभिरुग्रैः।
एवं-रूपः शक्य अहं नृलोके,
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरु-प्रवीर ! ।४८।

हे कुरुओं में वीर अर्जुन ! इस मृत्यु लोक में न वेदों के अध्ययन से, न यज्ञ विद्या (कल्प सूत्र) पढ़ने से, न दानों से, न श्रौतस्मार्त क्रियों के अनुष्ठान से और न ही उग्रतपों से इस प्रकार के रूप वाला मैं तेरे सिवाय और किसी दूसरे से देखा जा सकता हूं ।४८।

४६३ मा ते व्यथा मा च विमूढ-भावो,
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ् ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं,
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ।४९।

मेरे ऐसे भयंकर रूप को देखकर न तू दुःख पा और न हीं घबरा, भय छोड़ प्रसन्न चित्त होकर फिर मेरा वही पहला यह रूप देख ।४९।

---

४७ वें श्लोक की टिप्पणी।

३ आत्मन ऐश्वर्यस्य सामर्थ्यात् इति शं०। आत्मनः सत्य संकल्पत्व योगात् इति रा०।

४ यद्यपि भागवत १ स्कन्ध पू० अ० ७-८ के अनुसार दो वार माता यशोदा ने और महाभारत उद्योग प० अ० १३०:१३१ के मुताबिक कुरुसभा में भीष्म. द्रोण, विदुर संजय धृतराष्ट्र आदियों ने भी विश्व रूप देखे हैं पर अर्जुन का देखा यह विश्वरूप सचमुच ही विलक्षण था यहां तो भगवान् ने कह दिया था, कि और भी जो कुछ चाहता है मुझ में देख। गी० ११-७।

संजय उवाच

४६४ इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा,
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीत-मेनं,
भूत्वा पुनः सौम्य-वपुर्महात्मा ।५०।

संजय ने कहा—

वसु देव के पुत्र श्री कृष्ण जी ने इस प्रकार कह कर अर्जुन को फिर अपना (पहिला) रूप दिखाया और महात्मा श्री कृष्ण जी ने इस डरे हुए अर्जुन को सौम्य शरीर होकर आश्वासन (दिलासा) दिया ।५०।

अर्जुन उवाच—

४६५ दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ! ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ।५१।

अर्जुन बोला—

हे जनार्दन ! आपके इस सौम्य मनुष्य रूप को देखकर अब मैं होश में हूं और अपने आप में संभल गया हूं ।५१।

श्री भगवानुवाच—

४६६ सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शन कांक्षिणः ।५२।

भगवान् ने कहा—

इस बड़ी ही कठिनता से दीखने वाले मेरे जिस रूप को तूने देखा है । देवता भी इस रूप के देखने की सदा इच्छा करते रहते हैं ।५२।

४६७ नाहं वेदै र्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।५३।

मुझे जिस प्रकार तूने देखा है, उस प्रकार का मैं न वेदों से, न तपस्या से न दान से और न ही यज्ञ से देखा जा सकता हूँ ।५३।

४६८ भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ।५४।

हे परंतप अर्जुन ! (जो भक्ति भगवान् को छोड और किसी दूसरी वस्तु में कभी नहीं होती उस) अनन्य भक्ति से इस प्रकार के (विश्व रूप वाले) मुझको वास्तविक रूप में जाना, देखा और (मुझमें) प्रवेश (एकी भाव प्राप्त) किया जा सकता है ।५४।

४६९ मत्कर्म कृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ।५५।

हे अर्जुन ! जो मुझ परमात्मा के लिये ही कर्म करता है, मुझे ही श्रेष्ठ ! जानने योग्य जानता है, संसारिक संग छोडकर मेरा ही भक्त है और सब प्राणियों से निर्वैर भाव से वर्ताव करता है, वह मुझे प्राप्त कर लेता है ।५५।

इति श्रीमद्भगवद् गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग-शास्त्रे
श्री कृष्णार्जुन संवादे विश्वदर्शन योगो नाम

॥ [2]एकादशोऽध्यायः ॥

---

१ मद्भक्ति रीहितै केंवलै यंथावदवस्थितोऽहं द्रष्टुं न शक्यः । इति रा०

२ इस अध्याय संजय ने ८ अर्जुन ने ३३ और श्रीकृष्णजी ने १४ श्लोक कहे हैं और आरम्भ से यहां तक कुल ४६९ श्लोक हुए हैं ।

## अथ द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

**४७० एवं सतत-युक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।**
**ये चाप्यक्षर मव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ।१।**

अर्जुन ने कहा—

जो भक्त इस प्रकार निरन्तर चित्त लगाकर आपकी (साकार) उपासना करते हैं और जो अविनाशी, अव्यक्त ( निराकार ब्रह्म ) की (उपासना करते हैं) । उन में से अधिक योग (उपासना तत्व) को जानने वाले कौन हैं । अर्थात् इन दोनों में से साध्य को कौन शीघ्र प्राप्त करते हैं ।१।

श्रीभगवानु वाच-

**४७१ मय्यावेश्य मनो ये मां नित्य-युक्ता उपासते ।**
**श्रद्धया परयोपेता स्ते मे युक्ततमा मताः ।२।**

श्रीभगवान् बोले—

जो मुझ (व्यक्त=साकार) में मन लगाकर सदा मेरे ध्यान में लगे हुए अतिशय श्रद्धा से युक्त हो, मेरी (साकार की) उपासना करते हैं, उन्हे मैं (अधिक ठीक) उत्तम योगी मानता हूं ।२।

४७२ ये त्वक्षर-मनिर्देश्य-मव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिंत्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।३।

और जो (पुरुष,) सर्व व्यापक, अविनाशी की, जो किसी प्रकार बतलाया नहीं जा सकता, और न किसी प्रमाण से ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है, जो मन की पहुँच से भी परे है और माया का अधिष्ठाता होकर स्थित है, जो सदा एक सा रहने वाला और नित्य है, उस (निराकार) की उपासना करते हैं ।३।

४७३ संनियम्येन्द्रिय-ग्रामं सर्वत्र सम-बुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्व-भूत-हिते-रताः ।४।

इन्द्रियों के समूह को वश में कर, सब में समता की बुद्धि रखने वाले, समस्त प्राणियों के हितमें तत्पर, वे भी मुझे ही प्राप्त करते हैं ।४।

४७४ क्लेशोऽधिकतर-स्तेषामव्यक्तासक्त-चेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देह-वद्भिरवाप्यते ।५।

अव्यक्त (निराकार) में आसक्त (लगे) चित्त वाले पुरुषों को बहुत अधिक कष्ट होता है, क्योंकि निश्चय ही देहाभिमानी पुरुषों की अव्यक्त (निराकार) तक पहुँच कठिनता से होती है ।५।

४७५ ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।६।

जो (पुरुष) सब कर्मों को मुझ (परमेश्वर) में अर्पण करके मेरे (परमेश्वर के) परायण हो, अनन्य भाव से मन लगाकर मेरा (ईश्वर) ध्यान करते हुए, मेरी उपासना करते हैं ।६।

४७६ तेषामहं समुद्धर्ता मृत्यु-संसार-सागरात् ।
भवामि न चिरात् पार्थ ! मय्यावेशित-चेतसाम् ।७।

हे पार्थ ! (जिन्होंने) मुझ में मन लगाया हुआ है, उन्हें मैं मृत्यु रूप संसार सागर से शीघ्र ही पार कर देता हूं ।७।

४७७ मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ।८।

मुझ (परामेश्वर) में ही मन स्थित कर, मुझ में बुद्धि लगा । ऐसा करने के पश्चात् इसमें कोई संदेह नहीं कि तू मुझ (परमेश्वर) में ही निवास करेगा ।८

४७८ अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
[1]अभ्यास-योगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ! ।९।

हे धनञ्जय अर्जुन ! यदि तू मुझ (परमेश्वर) में मन को स्थिर करने में समर्थ नहीं (अर्थात् तेरा मन तुझसे मुझमें नहीं लगा) तो अभ्यास (बार बार दूसरी ओर से हटाकर मुझ में लगाने रूप) योग से मुझे प्राप्त करने की इच्छा कर ।९।

---

१ चित्तस्य एकास्मिन् आलम्बने सर्वतः समाहृत्य पुनः २ स्थापनम् अभ्यासः इति...

४७६ अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि [1]मत्कर्म-परमो भव ।

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धि-मवाप्स्यसि ।१०।

यदि तू अभ्यास करने में भी असमर्थ है, तो मेरे (ईश्वर के) लिये कर्म करने में तत्पर हो जा । इस प्रकार मेरे (ईश्वर के) निमित्त कर्म करता हुआ भी (मेरी प्राप्ति रूप) सिद्धि को प्राप्त होगा ।१०।

४८० अथैतदप्य शक्तोऽसि कर्तुं मद्योग-माश्रितः ।

सर्व-कर्म-फल-त्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ।११।

फिर यदि यह भी नहीं कर सकता, तो अपने आपको वश में करके मेरे (बतलाये हुए) योग (कर्म करने की कुशलता) से समस्त कर्मों के फलों का त्याग कर ।११।

४८१ श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।

ध्यानात्कर्म-फल-त्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।१२

अभ्यास (अज्ञान पूर्वक चित्त को बार २ रोकने) से ज्ञान श्रेष्ठ है (और केवल मौखिक) ज्ञान से (निरन्तर मन से चिन्तन रूप) ध्यान में विशेषता होती है, और ध्यान से कर्मों के फल का त्याग श्रेष्ठ है और कर्म फल त्याग से तत्काल शान्ति प्राप्त होती है ।१२।

---

[1] मदीयानि कर्माणि-आलय-निर्माणोद्यान-करण-प्रदीपारोपण-मार्जनाभ्युक्षणोपलेपन-पुष्पापहरण-पूजनोद्वर्तन-नामकीर्त-प्रदक्षिण-नमस्कार स्तुत्यादीनीतानि आचर इति रा० ।

४८२ अद्वेष्टा सर्व-भूतानां, मैत्रः करुण एव च ।

निर्ममो निरहङ्कारः समदुःख-सुखः क्षमी ।१३।

जो सभी भूतों से द्वेष रहित है (अर्थात् किसी से भी द्वेष नहीं करता) (सबका) मित्र है और सब पर कृपालु है, ममता रहित और अहंकार शून्य है, दुःख तथा सुख को समान मानता है और क्षमा शील है ।१३।

४८३ संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।

मय्यर्पित मनो बुद्धि-र्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।१४।

चित्त की वृत्तियों को वश में किये हुए, सदा संतुष्ट रहने वाला, संयमी दृढ निश्चय वाला मुझ (परमेश्वर) में मन (संकल्प शक्ति) और बुद्धि (विचार शक्ति) अपर्ण किये हुए जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्यारा है ।१४।

४८४ यस्मान्नोद्विजते लोको, लोकान्नो-द्विजते च यः ।

हर्षामर्ष-भयोद्वेगै मुक्तो यः स च मे प्रियः ।१५।

जिससे लोगों को (किसी प्रकार का) भय नहीं होता और जो लोगों से नहीं डरता और जो हर्ष, असहिष्णुता (डाह) भय और व्याकुलता से रहित है, वह मेरा भक्त मुझे प्यारा है ।१५।

४८५ अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भ-परित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।१६।

जो इच्छाओं से रहित, पवित्र, चतुर, पक्षपात शून्य, दुःखों से रहित, सभी (सकाम कर्मों के) आरम्भों का त्याग किये हुए है, वह मेरा भक्त मुझे प्यारा है ।१६।

४८६ यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभ-परित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ।१७।

जो (इष्ट वस्तु की प्राप्ति से ) प्रसन्न नहीं होता ( तथा अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति से) द्वेष नहीं करता, (प्रिय वस्तु के वियोग में) शोक नहीं करता और (अप्राप्त वस्तु की) आकांक्षा नहीं करता । जिसने शुभ तथा अशुभ (दोनों प्रकार के) कर्म फलों का परित्याग कर दिया हुआ है, ऐसा जो भक्तिवान् पुरुष है, वह मुझ (परमेश्वर) को प्यारा है ।१७.

४८७ समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्ण-सुख-दुःखेषु समः सङ्ग-विवर्जितः ।१८।

जो शत्रु और मित्र तथा मान-अपमान में समभाव रखता है शीत-उष्ण, सुख-दुःख में समभाव से रहता है, और आसक्ति रहित है । १८।

४८८ तुल्य-निन्दा-स्तुति मौनी संतुष्टो येन-केनचित् ।
अनिकेतः स्थिर-मति र्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ।१६

जो निन्दा और स्तुति में समान भाव से रहता है, जो मनन शील वा मितभाषी है और जैसी परिस्थिति हो, उसी में संतुष्ट रहता है, जिसे किसी स्थान विशेष में आसक्ति नहीं और जिसकी बुद्धि स्थिर है। वह भक्ति वाला पुरुष मुझे प्यारा है ।१६।

४८९ ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्धाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ।२०।

जो भक्त श्रद्धा करते हुए, मेरे परायण हो, जैसे कहा गया है, उसी प्रकार इस धर्म रूप अमृत का सेवन (अनुष्ठान) करते हैं। वे मुझे बहुत ही प्यारे हैं ।२०।

इति श्रीमद्भगवद् गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुन संवादे भक्तियोगोनाम

## द्वादशोऽध्यायः

इस अध्याय में अर्जुन ने १ और श्री कृष्ण जी ने १९ श्लोक कहे हैं और आरम्भ से यहां तक ४८९ श्लोक हुए हैं।

---

## अथ त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

४६० इदं शरीरं कौन्तेय ! [1]क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः [2]क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।१।

श्री भगवान् बोले—

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! इस शरीर को क्षेत्र कहते हैं और इसे जो जानता है, (अर्थात् जानने में आनेवाले शरीर का जानने वाला होने के कारण इससे भिन्न पदार्थ है) तत्व ज्ञानी उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं ।१।

४६१ क्षेत्रज्ञं [3]चापि [4]मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ! ।
क्षेत्र-क्षेत्रयो र्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।२।

हे भरत कुलोद्भव अर्जुन ! तू सभी क्षेत्रों (शरीरों) में क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) भी मुझ (ईश्वर) को ही जान ! क्षेत्र (शरीर) और क्षेत्रज्ञ (आत्मा) का जो ज्ञान है, वही ज्ञान है, यह मेरा मत है ।२।

---

१ क्षत-त्राणात्, क्षयात्, क्षरणात् क्षेत्रवत् वा अस्मिन् कर्म फलनिर्वृत्तेः क्षेत्रमिति । शं० ।

२ वेद्य भूताद् अस्माद् वेदितृत्वेन अर्थान्तर भूतं क्षेत्रज्ञमिति । रा० ।

३ अपि शब्दात् क्षेत्रम् अपि मां विद्धि इति उक्तम् इति अवगम्यते ।इति रा०

४ पृथिव्यादि संघात रूपस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञस्य च भगवच्छरीरतैक स्वभाव स्वरूपतया भगवदात्मकत्वम् इति । रा० ।

४६२ तत् क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत् प्रभावश्च तत् समासेन मे शृणु ।३।

और वह क्षेत्र जो कुछ वस्तु है, जिस प्रकार का है, और जिन २ विकारों वाला है, जिससे जो उत्पन्न होता है तथा वह (क्षेत्रज्ञ स्वरूप से) जो है, और जिन २ प्रभावों वाला है, वह संक्षेप से मुझ से सुन ।३।

४६३ [1]ऋषिभि र्बहुधा गीतं [2]छन्दोभि र्विविधैः पृथक्।
[3]ब्रह्म-सूत्र पदैश्चैव हेतु-मद्भि र्विनिश्चितैः ।४।

ऋषियों ने (इस विषय को) बहुत प्रकार से (विस्तार पूर्वक) कहा है, वेद मन्त्रों में स्थान २ पर (इसका वर्णन) आया है तथा युक्तियुक्त और निश्चित रूप से वेदान्त दर्शन के पदों (सूत्रों) में भी कहा गया है ।४।

---

१ वासुदेवात्मान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च । महा० शा० १४६।१३६।

२ क—पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्चभाव्यं ।ऋ० १०।६०२।
तस्माद्वा एतस्माद् आत्मन आकाशः संभूतः आकाशाद् वायुः ।तै० उ०।२।१।
ख—एतस्मा ज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायु र्ज्योति रापः पृथ्वी विश्वस्य धारिणी । मु० उ० २।३।
ग—क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः । क्षरात्मानावीशते देवएकः । श्वे०उ १।१०।

३ ब्रे० सू० १-१।१।२-२।१, १७, १८,४१ ।आदि ।

४६४ *[1]महा-भूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्त-मेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च [2]चेन्द्रिय-गोचराः ।५।

सूक्ष्म महा भूत (पञ्च-तन्मात्रा) अहंकार, बुद्धि, प्रकृति, दश इन्द्रिय एक (मन) और पांच इन्द्रियों के विषय ।५।

४६५ [3]इच्छा द्वेषः सुखं, दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः ।
एतत् क्षेत्रं समासेन स-विकार-मुदाहृतम् ।६।

इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात (समुदाय रूपसे शरीर) चेतना और धृति यह विकारों के सहित संक्षेप से क्षेत्र कहा गया है ।६।

---

*१—यहां कारण मेंकार्य का उपचार करके महाभूतों की कारण पञ्चतन्मात्रा महाभूत शब्द से कही गई हैं। अतः पञ्चतन्मात्रा उनका कारण अहंकार उसका कारण महातत्व (समष्टि बुद्धि) उसका कारण प्रकृति १० इन्द्रियां १ मन तथा इन्द्रियों द्वारा अनुभव होने वाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, गुण वाले पञ्चमहाभूत ये सब सांख्यवादियों के २४ तत्व कहे गये हैं।

*इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख संघात (शरीरचेतना) जीवन शक्ति। अग्नि के संयोग से जैसे लोहे में दाहकता, उज्वलता, और तरलता आ जाती है, जो उसकी स्वाभाविक नहीं और न ही उसमें सदा रहने वाली होती है] वैसे ही इन्द्रिय आदि अनित्य अवस्तुओं में चित् संक्रमण होने से उनमें चेतना आ जाती है वह चेतनता और धृति धारण करने की शक्ति अर्थात् प्राण शक्ति इस प्रकार यह संक्षेप से क्षेत्र कहा गया है।

४६६ अमानित्व-मदम्भित्व-महिंसा क्षान्ति रार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्म-विनिग्रहः ।७।

मान न करना, दम्भ न करना, हिंसा न करना, क्षमा करना, सरल (स्वभाव) होना, गुरु की सेवा करना, पवित्र रहना, दृढ निश्चय वाला होना, अपने आपको वश में रखना ।७।

४६७ इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोषानुदर्शनम्। ८।

इन्द्रियों के भोग्य विषयों में वैराग्य होना और निश्चय ही अहंकार न करना तथा जन्म, मृत्यु, बुढापा, रोग, दुःख इन के दोषों का विचार करना ।८।

४६८ असक्तिरनभिष्वंगः पुत्र-दार-गृहादिषु ।
नित्यं च सम-चित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ।६।

पुत्र, स्त्री, गृह, आदि में उलझे न रहना, उन के मोह में न फंसना । अनुकूल तथा प्रतिकूल की प्राप्ति में चित्त को सदा समान भाव से रखना ।६।

---

५, ६ वें श्लोक की टिप्पण

१ प्रकृते महांस्ततोऽहंकारः तस्माद्गणश्चषोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात्पंचभ्यः पञ्च भूतानि । सांख्या कारिका २१।
२ तानि एतानि सांख्याः चतुर्विंशति तत्वानि आचक्षते । इति शं०
३ अत्र इदानी आत्मगुणा इति यान् आचक्षते, वैशेषिकाः तेऽपि क्षेत्रधर्म एव न तु क्षेत्रज्ञस्येति ।शं०।

४९९ मयि चानन्य-योगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेश-सेवित्व-मरति र्जनसंसदि ।१०।

एक मात्र मुझ (परमेश्वर) में अटल भक्ति का होना, एकान्त में रहना, और वहुत भीड़ भाड़ में रहने की रुचि न रखना ।१०।

५०० अध्यात्मज्ञान-नित्यत्वं तत्वज्ञानार्थ-दर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्त मज्ञानं यदतोऽन्यथा ।११।

आत्मा के ज्ञान में सदा प्रवृत्त रहना । तत्वज्ञान का (यथार्थज्ञानका) विचार करना, इसीको ज्ञान कहते हैं और इससे जो विपरीत है, वही अज्ञान है।११

५०१ ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादि-मत्परं ब्रह्म न [1]सत्तन्नासदुच्यते ।१२।

वह ज्ञेय (जानने की वस्तु) जिसके जानने से जीव मुक्त हो जाता है । मैं तुझे वतलाऊंगा । वह आदि रहित परम ब्रह्म है । उसे न सत् कह सकते हैं, और न असत् ही ।१२।

---

१ यत् हि इन्द्रिय गम्यं वस्तु घटादिकं तत् अस्ति बुद्ध्यनुगतप्रत्ययविषयं वा स्यात् नास्तिबुद्ध्यनुगत प्रत्ययंविषयं वा स्यात् । इदं तु ज्ञेयं अतीन्द्रियत्वेन शब्दकप्रमाणगम्यत्वात् न घटादिवत्, उभय बुद्ध्यनुगत प्रत्यय विषयं इति अतो न सत् तद् न असत् इति उच्यते । शं० ।

५०२ [1]सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरो मुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।१३।

उसके सब ओर हाथ पांव हैं, सर्वत्र आंखें, सिर और मुख हैं, सब तरफ़ कान हैं, और वह संसार में सब जगह व्यापक होकर स्थित है ।१३ ।

५०३ सर्वेन्द्रिय [2]गुणाभासं सर्वेन्द्रिय-विवर्जितम् ।
असक्तं, सर्व-भृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।१४।

उसमें सब इन्द्रियों के गुणों का आभास होता है (अर्थात् सभी इन्द्रियों के विषय इसी से भासते हैं । (तो भी) वह इन्द्रियों से रहित है । वह सर्वथा संग रहित होने पर भी सबको धारण किये हुए है और निर्गुण हो कर भी गुणों का भोक्ता है ।१४।

५०४ [3]बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात् तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।१५।

वह भूतों के बाहिर भी है और अन्दर भी । अचर भी है और चर भी । सूक्ष्म होने से वह जाना नहीं जा सकता, पर वह दूर भी है और समीप भी है ।१५।

---

१ विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतः पात् ऋ०१०।८१।३
२ अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः श्वे० उ० ३।१६।
३ तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः । ईशा उ० ५ ।

५०५ अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूत-भर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ।१६।

वह ज्ञेयतत्व विभाग रहित होता हुआ भी भूतों में विभक्त हुए २ के समान स्थित प्रतीत होता है। भूतों को धारण पोषण करने वाला संहार करने वाला और उत्पन्न करने वाला भी वही है।१६।

५०६ ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञान-गम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।१७।

वह ज्योतियों की भी ज्योति है, और (अज्ञान रूप) अन्धकार से परे है। वह ज्ञान (स्वरूप) है, तथा (ज्ञान से) जानने योग्य है, (और) ज्ञान से जो प्राप्त होता है वह भी वही है और वह सबके हृदय में स्थित है।१७।

५०७ इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ।१८।

इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और ज्ञेय को संक्षेप से कहा गया है मेरा भक्त इसे जानकर मेरे रूप को प्राप्त होता है।१८।

५०८ प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृति-संभवान्।१९।

प्रकृति तथा पुरुष इन दोनों को तू अनादि जान और राग द्वेष (वा बुद्धि) आदि विकारों को तथा गुणों को तू प्रकृति से उत्पन्न हुए जान।१९।

५०९ कार्य-[1]करण-कर्तृत्वे हेतुः प्रकृति-रुच्यते ।
पुरुषः सुख-दुःखानां भोक्तृत्वे हेतु-रुच्यते ।२०।

कार्य (शरीर) (और उसमें स्थित) करण (मन, बुद्धि, अहंकार और दश इन्द्रियां) इनको बनाने अथवा इनसे क्रिया करवाने में (पुरुषाधिष्ठित) प्रकृति हेतु कही गई है और सुख दुःख आदि के भोग का हेतु पुरुष (जीव) को कहा गया है ।२०।

५१० पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुण-सङ्गोऽस्य सदसद्योनि-जन्मसु ।२१।

प्रकृति के साथ मेल होने से ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न गुणों को भोगता है और उन गुणों के साथ सम्बन्ध ही पुरुष को अच्छी या बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण बनता है ।२१।

---

१ (क) कार्य करण इति शं० ।   १ कार्य कारण इति रा० ।

१ (ख) अथवा कार्य कारण यह पाठ माने तो यह अर्थ होगा—

कार्य ५ ज्ञान इन्द्रियां, ५ कर्म इन्द्रियां, ५ उनके विषय तथा १ मन, ये १६ दूसरों के कार्य तो हैं, पर स्वयं किसी के कारण नहीं । अतः इन्हें कार्य शब्द से कहा है और महातत्व, अहंकार पांच सूक्ष्म महाभूत, ये दूसरों के कारण भी हैं इसलिये यहां इन्हें कारण शब्द से कहा है । इस प्रकार श्लोक का अर्थ यह होता है कि—

सात प्रकृति-विकृतियां तथा सोलह विकारों को बनाने में हेतु प्रकृति है और सुख दुःख के अनुभव का हेतु पुरुष (जीव) है । यथा

मूल प्रकृतिरविकृति र्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशस्तु विकारः । सांख्य कारिका ३ ।

५११ उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ।२२।

(अपने अपने कार्य में लगी हुई इन्द्रियों के कार्यों को) समीप होकर देखने वाला, (उसकी सत्ता से कार्य करने वाले अन्तःकरण तथा इन्द्रियों को स्वयं देखते हुए भी किसी कार्य से कभी निवारण न करने से मानों इन का) अनुमोदक, (अपनी विद्यमानता से ही शरीर का) भरण-पोषण करनेवाला (और प्रकृति में होने वाले सुख दुःख को) अनुभव करने वाला, सबका स्वामी इस शरीर में श्रेष्ठ पुरुष (क्षेत्रज्ञ) परमात्मा कहा गया है। अथवा "पुरुषःपरः" एक और पुरुष इस शरीर में परमात्मा कहा गया है।२२

५१२ य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ।२३।

जो इस प्रकार पुरुष (क्षेत्रज्ञ) और गुणों के साथ प्रकृति को जानता है। वह सब प्रकार के कार्य (कर्तव्य कर्म हिंसा हिंसादि) करता हुआ भी पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता ।२३।

५१३ ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति, केचिदात्मान-मात्मना ।
अन्ये सांख्येन-योगेन, कर्म-योगेन चापरे ।२४।

कोई एक ध्यान द्वारा (एकाग्र भाव से चिन्तन करते हुए) बुद्धि से अपने आप में आत्मा के दर्शन करते हैं। दूसरे सांख्ययोग से (सत्वरजतम ये तीनों गुण मुझसे देखे जाने वाले हैं और मैं इनसे भिन्न उनका द्रष्टा हूं इस ज्ञान से) आत्मा को देखते हैं। और तीसरे कर्म योग से (निष्काम कर्म करने से) आत्मा का अनुभव करते हैं ।२४।

५१४ अन्ये त्वेवमजानन्तः, श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुति-परायणाः।२५।

और (चौथी प्रकार के कुछ) लोग उपर्युक्त मार्गों को न जानते हुए और लोगों (गुरुओं) से सुनकर उपासना करते हैं और वे श्रवण के अनुसार अनुष्ठान करने वाले भी मृत्यु को पार कर लेते (मुक्ति पा लेते) हैं।२५।

५१५ यावत् सञ्जायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावर जङ्गमम्।
क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ! ।२६।

हे भरत वंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! जो कुछ भी स्थावर (अचर) जंगम (चर) पदार्थ उत्पन्न होते हैं। उन्हें तू क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न हुआ जान।२६।

५१६ समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।२७।

जो पुरुष नाश होने वाले समस्त भूतों में समभाव से स्थित अविनाशी परमेश्वर को देखता है, वही (सचाई को) देखता है।२७।

५१७ समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम्।२८।

सब जगह समभाव से (एक रस) रहने वाले ईश्वर को समभाव में स्थित देखने वाला, निश्चय ही अपने आपसे आत्मा का हनन नहीं करता, इसलिये परम गति को प्राप्त करता है।२८।

५१८ प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ।२९।

जो पुरुष कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति द्वारा किये हुये और आत्मा को अकर्त्ता देखता (अनुभव करता) है, वही (सचाई को) देखता है ।२९।

५१९ यदा भूत-पृथग्भाव-मेकस्थ-मनु-पश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ।३०।

जब भूतों की पृथकता के भावों को एकत्व के भाव में स्थित देखता है और (उसी एकत्व भाव) से (जगत् के) विस्तार को (देखता है) तब ब्रह्म स्वरूप हो जाता है ।३०।

५२० अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ।३१।

हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! यह अविनाशी परमात्मा अनादि तथा निर्गुण होने से शरीर में रहता हुआ भी, न कुछ करता है, और न ही (कर्म फलों से) लिप्त होता है ।३१।

५२१ यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ।३२।

जैसे सर्वव्यापक आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं होता, वैसे ही आत्मा देह में सर्वत्र होने पर भी ( निर्गुण होने से शरीर के गुणों से ) लिप्त नहीं होता ।३२।

५२२ यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ।३३।

हे अर्जुन ! जैसे एक ही सूर्य समस्त संसार को प्रकाशित करता है, वैसे (एक ही) क्षेत्र का स्वामी (आत्मा) समस्त क्षेत्र में प्रकाशमान हो रहा है ।३३।

५२३ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञान-चक्षुषा ।
भूत-प्रकृति-मोक्षं च ये विदु र्यान्ति ते परम् ।३४।

इस तरह ज्ञान रूपी नेत्रों से जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को और प्रकृति (के बन्धन से) प्राणियों की मुक्ति (के उपाय) को जान लेते हैं, वे परम गति को प्राप्त करते हैं ।३४।

इति श्रीमद्भगवद् गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग-शास्त्रे
श्री कृष्णार्जुन संवादे क्षेत्र क्षेत्रज्ञ योगो नाम
॥ [1]त्रयोदशोऽध्यायः ॥

---

१ इस अध्याय में ये ३४ श्लोक श्रीकृष्णजी कहे हुए हैं आरम्भ से यहां तक कुल ५२३ श्लोक हुए हैं ।

# अथ चतुर्दशोऽध्यायः

श्री भगवानुवाच—

५२४ परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञान मुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ।१।

श्री भागवान् बोलेः—

मैं फिर तुझे सभी ज्ञानों से परम उत्तम ज्ञान बतलाने लगा हूँ। जिसे जानकर सभी मुनि इसी देह से परम सिद्धि को पा गये हैं ।१।

५२५ इदं ज्ञान,मुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।२।

इस ज्ञान का अवलम्बन कर, मेरे साथ एकत्व भाव को प्राप्त हो (मनुष्य) सृष्टि के उत्पत्तिकाल में भी जन्म नहीं लेते और प्रलय काल में भी दुःख नहीं उठाते हैं (फिर और समय की तो बात ही क्या) ।२।

५२६ मम योनि [1]र्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।३।

हे अर्जुन! महत (बड़ी) ब्रह्म (विशाल) (अर्थात प्रकृति,) मेरी योनि (उत्पन्न करने का स्थान) है, उसमें मैं (ईश्वर) गर्भ (चेतना शक्ति) स्थापित करता हूं। तब सब जीवों की उत्पत्ति होती है ।३।

---

१ अचेतना प्रकृतिः महदहंकारादि विकाराणां कारणतया महद् ब्रह्म इति उच्यते इति रा० ।

५२७ सर्व-योनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।

तासां ब्रह्म महद्योनि रहं बीजप्रदः पिता ।४।

हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! (नाना प्रकार की इन ) सब योनियों में जितने भी ये भिन्न २ आकर के शरीर उत्पन्न होते हैं । प्रकृति उनकी उत्पत्ति स्थान (माता) है और मैं (ईश्वर) बीज (शक्ति) प्रदान करने वाला पिता हूं ।४।

५२८ सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति सम्भवाः ।

निबध्नन्ति महाबाहो ! देहे देहिन-मव्ययम् ।५।

हे विशाल बाहु वाले अर्जुन ! सत्व, रज, तम ये प्रकृति से प्रकट हुए २ गुण विकार रहित जीवात्मा को शरीर में बान्ध लेते हैं ।५।

५२९ तत्र सत्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।

सुख संगेन बध्नाति ज्ञान संगेन चानघ ।६।

हे निष्पाप अर्जुन ! उन (गुणों) में सत्व निर्मल होने से प्रकाशक (वस्तु के यथार्थ रूप का बोधक) और शान्त है वा नीरोगता का हेतु है, वह सुख की आसक्ति तथा ज्ञान की आसक्ति से आत्मा को बान्धता है अर्थात् सुख और ज्ञान में पुरुष की आसक्ति उत्पन्न कर देता है ।६।

५३० रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंग-समुद्भवम् ।

तन्निबध्नाति कौन्तेय ! कर्म-संगेन देहिनम् ।७।

हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! तृष्णा और संग को उत्पन्न करने वाले, रजो गुण को तू कामना स्वरूप जान । यह कर्मों में आसक्ति द्वारा जीवात्मा को बान्धता है ।७।

५३१ [1]तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्व-देहिनाम् ।

[2]प्रमादालस्य निद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ! ।८।

हे भरतवंशीय अर्जुन ! निश्चय ही तू तमो गुण को अज्ञान उत्पन्न करने वाला जान । वह देहधारियों को मोह में डाल कर (उन्हें) प्रमाद, आलस्य और निन्द्रा द्वारा बान्धता है ।८।

५३२ सत्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत !

ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ।६।

हे भरतवंशीय अर्जुन ! सत्वगुण सुख में प्रवृत्त करता है, रजो गुण कर्म में और तमो गुण तो ज्ञान को ढक कर प्रमाद में ही फंसाता है ।६।

---

१ अज्ञानं जायते यस्मादिति अज्ञानजम् । २ प्रमादः कर्तव्यात कर्मणः अन्यत्र प्रवृति हेतु भूतं अनवधानम् । इति रा० ।

**५३३ रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत ।**
**रजः सत्वं तमश्चैव तमः सत्वं रजस्तथा ।१०।**

हे अर्जुन ! रजो गुण और तमो गुण को दबाकर सत्व गुण (प्रधान) होता है, एवं रजो गुण और सत्व गुण को दबाकर तमो गुण और वैसे ही तमो गुण और सत्व गुण को दबाकर रजो गुण (अपना कार्य आरम्भ करता है) ।१०।

**५३४ [1]सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।**
**ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्वमित्युत ।११।**

जब इस शरीर की सब ज्ञान इन्द्रियों में ज्ञान रूप प्रकाश उत्पन्न होता है ! तब यह समझना चाहिये कि सत्व गुण बढा हुआ है ।११।

**५३५ [2]लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।**
**रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ।१२।**

हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! रजो गुण के बढने पर लोभ (कार्य करने की) प्रवृति, कर्मों का आरम्भ, (मन में) अशान्ति और पदार्थों की चाह उत्पन्न होती है ।१२।

---

१ सर्वेषु चक्षुरादिषु ज्ञानद्वारेषु यदावस्तुयाथात्म्य प्रकाशे ज्ञानं उपजायते तदाऽस्मिन् देहे सत्वं प्रवृद्धम् इति रा० ।

२ लोभः परद्रव्यादित्सा इति शं ।

लोभः स्वकीयद्रव्यस्य अत्यागशीलता इति रा०

५३६ अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ।१३।

हे अर्जुन! अज्ञान, अकर्मण्यता, प्रमाद और मोह ये ही तमो गुण के बढने पर उत्पन्न होते हैं ।१३।

५३७ यदा सत्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तम-विदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ।१४।

जब देहधारी सत्व गुण की बढती के समय मृत्यु को प्राप्त होता है, तब उत्तम विदों (ब्रह्म ज्ञानियों) के (प्राप्ति योग्य) लोकों को प्राप्त होता है ।१४।

५३८ रजसि प्रलयं गत्वा कर्म-संगिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ।१५।

जब रजो गुण की वृद्धि होने पर मृत्यु हो तो (वह कर्म) करने में आसक्त लोगों में जन्म लेता है वैसे ही तमो गुण बढने पर मृत्यु हो जाये तो (वह व्यक्ति) मूढ योनि (पशु पक्षी आदियों) में जन्म लेता है ।१५।

५३९ कर्मणः [1]सुकृतस्याहुः सात्विकं निर्मलं फलम्।
रजस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ।१६।

सात्विक कर्म का निर्दोष सात्विक (सुख रूप) फल होता है। राजस कर्म का तो फल दुःख और तमस कर्म का फल अज्ञान कहा है ।१६।

---

१ सुकृतस्य सात्विकस्य इत्यर्थः इति शं०।

५४० सत्वात् संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ।१७।

सत्य गुण से ज्ञान उत्पन्न होता है तथा रजो गुण से निश्चय ही लोभ पैदा होता है और तमो गुण से प्रमाद तथा मोह उत्पन्न होते हैं और अज्ञान भी पैदा होता है ।१७।

५४१ ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुण-वृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ।१८।

सत्व गुण में स्थित लोग उच्चस्थान को पाते हैं (स्वर्ग जाते हैं वा उन्नत हैं) । रजो गुण में स्थित लोग मध्य में ठहरते हैं (मृत्यु लोक में जन्म लेते हैं वा मध्यम दशा में रहते हैं) निन्दनीय गुणों को धारण करने वाले तमो गुणी लोग अधोगति को प्राप्त होते हैं अथवा नरक में जाते हैं ।१८।

५४२ नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधि-गच्छति ।१९।

जब द्रष्टा (जीव) गुणों के सिवाय और किसी को कर्ता नहीं देखता और (अपने आपको) गुणों से परे जानता है, अथवा (गुणों से परे परमात्मा को जान लेता है,) तब वह मेरे भाव (ईश्वर रूप को) प्राप्त हो जाता है ।१९।

**५४३ गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देह-[1]समुद्भवान् ।**

**जन्म-मृत्यु-जरा दुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।२०।**

शरीर (से उत्पन्न था) की उत्पत्ति करने वाले इन तीन गुणों का उल्लघन करके पुरुष जन्म, मृत्यु, बुढापे तथा दुःखों से छूट जाता (और) अमरत्व को प्राप्त करता है ।२०।

अर्जुन उवाच—

**५४४ कैर्लिङ्गै स्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो !**

**किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते ।२१।**

अर्जुन ने कहा—

हे प्रभो ! इन तीन गुणों से अतीत (परे) रहने वाला पुरुष किन लक्षणों से पहचाना जाता है ! उसका आचरण कैसा होता है ? और वह इन तीन गुण से अतीत (परे) कैसे रहता है ? ।२१।

श्री भगवानुवाच—

**५४५ प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव !**

**न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ।२२।**

श्री भगवान् बोले—

हे पाण्डु पुत्र ! (सत्व गुण के कार्य) प्रकाश (रजोगुण के कार्य) प्रवृत्ति और (तमो गुण के कार्य] मोह इन तीनों के प्राप्त होने पर (जो) द्वेष नहीं करता और न ही इनके निवृत्त होने पर इच्छा करता है ।२२

---

[1] देहाकार परिणत प्रकृति समुद्भवान् इति रा० [2] देहोत्पति बीजभूतान् इ० शं

५४६ उदासीन-वदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ।२३।

उदासीन के समान स्थित हुआ २ जो गुणों से विचलित नहीं किया जाता । (कार्य कारण और विषय रूप में) गुण ही वर्त रहे हैं यह समझ कर जो स्थिर रहता है, डोलता नहीं ।२३।

५४७ सम दुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्म-कांचनः ।
तुल्य-प्रियाप्रियो धीर स्तुल्य निन्दात्म-संस्तुतिः ।२४।

जो दुःख सुख को समान समझता है, अपने आप में ही प्रसन्न रहता है, मिट्टी के ढेले पत्थर और सोने को एक सा समझता है। प्रिय अप्रिय की प्राप्ति होने पर समावस्था में रहता है। जो धीर है और जिसे अपनी निन्दा स्तुति समान है अर्थात् जो निन्दा से दुःखी और स्तुति से फूलता नहीं ।२४।

५४८ मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारि-पक्षयोः ।
सर्वारम्भ परित्यागी गुणातीतः स उच्यते ।२५।

जिसके लिये मान और अपमान एक से हैं, मित्र और शत्रु समान हैं जिसने सभी कर्मों के आरम्भ को छोड़ दिया है, गुणों से अतीत (परे) वही कहलाता है ।२५।

५४९ मां च योऽव्यभिचारेण भक्ति-योगेन सेवते ।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ।२६।

और जो मुझ (परमेश्वर का) अनन्य भक्ति से भजन करता है। वह इन गुणों को लांघ कर मुक्ति प्राप्त करने के योग्य हो जाता है ।२६।

५५० ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽ[1]हममृतस्याव्ययस्य च ।

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्ति-कस्य च ।२७।

अविनाशी, निर्विकार, नित्य, धर्मस्वरूप, तथा अखण्ड सुख रूप ब्रह्म का मैं ही आश्रय हूं अर्थात् वह ब्रह्म मुझसे भिन्न नहीं है ।२७।

इति श्रीमद्भगवद् गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे गुणत्रय विभाग योगोनाम

[2]चतुर्दशोध्यायः

---

१ यया च ईश्वर-शक्त्या भक्तानुग्रहादि प्रयोजनाय ब्रह्म प्रतिष्ठते प्रवर्तते सा शक्तिः ब्रह्म एव अहं शक्ति शक्तियतोः अनन्यत्वात् इति अभिप्रायः। ग्रं

इस अध्याय में अर्जुन ने १ और श्रीकृष्ण ने २६ श्लोक कहे हैं और आरम्भ से यहां तक ५५० श्लोक हुए हैं।

# अथ पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

५५१ [1]ऊर्ध्व-मूल-[2]मधः शाख-मश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
[3]छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ।१।

श्री भगवान् बोले—

ऊपर जड़ और नीचे शाखों वाले अश्वत्थ=पीपल (अर्थात् कल तक न रहने वाले [क्षण-भङ्गर] संसार रूप वृक्ष को अव्यय (कभी कम न होने वाला अर्थात् धारा प्रवाह से अनादि, सनातन) कहते हैं। वेद जिसके पत्ते हैं। जो उसे जानता (समझा) है, वह वेद को जानने वाला है ।१।

---

१ यही भाव कठोपनिषद् में है-'ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाखा एषोऽश्वत्थः सनातनः। कठ २।३।१।

२ एक विद्वान् ने इसका यह भी अर्थ किया है, कि जिसका मूल ऊपर और शाखाएं नीचे हैं उस अश्वत्थ को प्राणि शरीर का एक अवयव कहते हैं। इच्छाएं (छन्द) इसकी पत्तियां हैं जो उसके व्यापार को जानता है वह जानने योग्य वस्तु को जान लेता है। भाव यह कि स्नायु जाल जो शरीर के मूर्तभाग को अमूर्त भाग से जोडता है अर्थात् चित्त का भूत द्रव्य के साथ संयोग करता है। इस स्नायु जाल का मूल मास्तिष्क शरीर में ऊपर है और पृष्ठवंश मेरु दण्ड (रीढ) जो इसका तना है, वह नीचे है। इस प्रकार यह उलटे अश्वत्थ वृक्ष की तरह शरीर रूप वृक्ष का वर्णन है।

५५२ अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा,

गुण-प्रवृद्धा विषय-प्रवालाः ।

अधश्च मूलान्यनु-संततानि,

कर्मानुबन्धीनि मनुष्य लोके ।२।

उस (वृक्ष) की (अपने उपादान कारण रूप सत्व, रज तथा तम) गुणों से बढी हुई और (शब्द स्पर्श रूप, रस, गन्ध,) विषय रूप कोयलों वाली शाखाएं (डालियां) नीचे ऊपर फैली हुई हैं और (इस) मनुष्य लोक में कर्मों के साथ सम्बन्ध रखने वाली जड़ें नीचे दूर तक फैली हुई हैं (अर्थात् अनेक जन्मों के कर्मों से उत्पन्न होने वाली वासनाएं जो मनुष्य लोक में व्यक्ति के धर्म तथा अधर्म की प्रवृत्ति की (मूल) कारण (जड के समान हैं) अनेक जन्मों की पुरानी होने से बहुत गहरी चली गई हुई हैं) ।२।

---

१ श्लोक की टिप्पण

२ वेद जिसके पत्ते हैं, अर्थात् जीव को जीवन में सुख देने वाली छाया वेदसे ही मिलती है। इसलिये वेद उसके पत्ते हैं। यदि वेद उससे हटा दिया जाय अर्थात् वेद आज्ञा का उलंघन किया जाय, तो संसार छाया हीन ठूंठ रह जाता है, जिसमें रहने से संताप के सिवाय और कुछ नहीं मिल सकता ।

५५३ न रूपमस्येह तथोपलभ्यते,
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढ-मूल-
मसङ्ग शस्त्रेण दृढेन छित्वा, ।३।

इस (वृक्ष) का स्वरूप यहां (जैसा वर्णन किया है) वैसा दिखाई नहीं देता। न अन्त (अर्थात् इस संसार की समाप्ति कब होगी) न आदि (अर्थात् यह संसार कब से आरम्भ हुआ है) और न ही प्रतिष्ठा-(स्थिति) का पता चलता है (अर्थात् अनात्मा में आत्माभिमान रूप अज्ञान जो इसकी स्थिति का कारण है कैसे हुआ यह भी समझ में नहीं आता) अतः बड़ी पक्की जन्मी हुई जड़ों वाले इस अश्वत्थ (कल तक जिसके रहने का भरोसा नहीं) (पीपल के) वृक्ष को असंग (पुत्रैषणा, वित्तैषणा लोकैषणा से विरक्ति) रूप मजबूत शस्त्र से काट कर ।३।

५५४ ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं,
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये,
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ।४।

(यह भावना करके कि) मैं इसी आदि पुरुष (परमेश्वर) की शरण ग्रहण करता हूं जिससे यह पुरातन काल से (संसार रूप वृक्ष का) विस्तार हुआ है, तदन्तर उस पद की खोज करनी चाहिये। जिसमें जाकर फिर नहीं लौटते (अर्थात् मुक्ति पा जाते हैं)।

५५५ निर्मान-मोहा जित-संग-दोषा

अध्यात्म-नित्या विनिवृत्त-कामाः ।

द्वन्द्वै र्विमुक्ताः सुख-दुःख-संज्ञै,

र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ।५।

जिनका अभिमान और मोह दूर हो चुका है, जिन्होंने विषयासक्ति रूप दोष को जीत लिया है, जो आत्मा के विचार में सदा लगे हुए हैं, जो कोई कामना नहीं करते, जो सुख-दुःख नाम के द्वन्द्वों से मुक्त हो चुके हैं, जिनका अज्ञान मिट गया है, वे उस अविनाशी पद (मोक्ष) को प्राप्त कर लेते हैं ।५।

५५६ न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ।

यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।६।

जहां सूर्य प्रकाश नहीं कर (सक) ता, न चान्द और न अग्नि (क्योंकि उन सबको वहीं से प्रकाश मिलता है) और जहां जाकर मनुष्य संसार में नहीं लौटते, वह (स्वयं प्रकाश रूप) सर्व श्रेष्ठ मेरा पद है ।६।

५५७ ममैवांशो जीवलोके जीव-भूतः सनातनः ।

मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।७।

संसार में मेरा (परब्रह्म-परमात्मा का ही) सनातन अंश जीव बन कर प्रकृति में रहने वाली (आंख, नाक, कान, जिह्वा, और त्वचा इन) पांच ज्ञान इन्द्रियों के साथ छठे मन को खींच लेता है ।७।

५५८ शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायु गन्धानिवाशयात् ।८।

जैसे वायु (गन्ध के) आश्रय (पुष्पादि) से गन्ध ले जाता है वैसे ही शरीर का स्वामी (यह जीवात्मा) जिस शरीर को त्यागता है वहां से इन (ज्ञान इन्द्रियों और मन) को लेकर जिस शरीर को प्राप्त करता है वहां ले जाता है। ८।

५५९ श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानु-पसेवते ।९।

यह (जीवात्मा) कान, आंख, त्वचा, जीह्वा, नाक और मन के सहारे से विषयों का सेवन करता है ।९।

५६० उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा [1]गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञान-चक्षुषः ।१०।

शरीर को छोड़ कर जाने वाले अथवा शरीर में रहने वाले, विषयों को भोगने वाले वा [सुख-दुःख मोहादि] गुणों के साथ सम्बन्ध रखते हुये [ जीवात्मा ] को अज्ञानी नहीं देखते, किन्तु ज्ञान रूप आंखों वाले (ही) देखते हैं ।१०।

---

१ एवं अत्यन्त दर्शन गोचर प्राप्त [illegible]

५६१ यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यव-स्थितम्।

यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ।११।

यत्न करने वाले योगी इस (जीवात्मा) को अपने अन्दर देखते हैं, परन्तु मलिन अन्तः करण वाले अविवेकी पुरुष यत्न करने पर भी इस (जीवात्मा) को नहीं देखने पाते ॥११॥

५६२ यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।

यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।१२।

जो सूर्य में विद्यमान तेज सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करता है। जो तेज चन्द्रमा में है और जो अग्नि में है, उसको मेरा ही तेज जान ।१२।

५६३ गामाविश्य च भूतानि [1]धारयाम्यहमोजसा।

पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ।१३।

मैं पृथ्वी में व्याप्त होकर अपनी शक्ति से सभी भूतों को धारण करता हूं और रस रूप चन्द्रमा होकर समस्त (धान जौ आदि) औषधियों का पोषण करता हूं ।१३।

---

१ स दधार पृथ्वीं । तै० सं० ४।१।८।

५६४ अहं [1]वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापान-समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ।१४।

मैं जठराग्नि (पेट की गर्मी) बन कर प्राणियों के देह में रहता हुआ प्राण और अपान वायु से मिलकर (खाने, चूसने, चाटने और पीने वाले) चारों प्रकार को आहार को पचाता हूं ।१४।

५६५ सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञान [2]मपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
[3]वेदान्त [4]कृद्वेदविदेव चाहम् ।१५।

मैं सबके हृदय में रहता हूं । स्मृति, ज्ञान और [इनका] लोप अथवा तर्क वितर्क सभी ये मुझ से होते हैं । सभी वेदों द्वारा मैं ही जानने योग्य हूं तथा वेदान्त सिद्धान्त का (उपदेश) करने वाला (अथवा वेद में कहे फल को देने वाला) मैं हूं और वेदों के अर्थ जानने वाला भी मैं ही हूं ।१५।

---

१ अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते । बृ०उ० ५।९।१

२ अपोहनं—अपायनम् इति शं० ऊहनं इति रा०

३ वेदान्तकृत् वेदानाम् अन्तः फलं, फलकृत्, वेदोदित फलस्य प्रदाता च अहमवेत्यर्थं इति रा० ।

**५६६ द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।**

**क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।१६।**

इस लोक में क्षर [क्षीण होने वाला] और अक्षर (अविनाशी) ये दो ही पुरुष हैं [उनमें से] सब भूतों को क्षर कहते हैं और कूटस्थ (अचल राशि) अविनाशी को अक्षर कहते हैं।१६।

**५६७ उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।**

**यो [1]लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः।१७।**

उत्तम पुरुष तो [इन दोनों] से विलक्षण है, उसे परमात्मा कहते हैं। जो अविनाशी ईश्वर तीनों लोकों में व्यापक होकर [उन सबका] धारण-पोषण करता है।१७।

---

१५ वें श्लोक की टिप्पणि

४ वेदवित् च अहमेव, एवं मदभिधायिनं वेदम् अहम एव वेद। इतः अन्यथा यो वेदार्थं ब्रूते न स वेदविद् इति अभिप्रायः इति रा०। वेद को जानने वाला भी मैं हूं। वेद मेरा विधान करने वाले हैं, इस प्रकार मैं जानता हूं। जो इससे विपरीत वेद का अर्थ करते हैं, वे वेदवेत्ता नहीं। त्रैगुण्य विषया वेदा २।४५।" इस श्लोक का जो लोग यह अर्थ करते हैं कि वेदों में केवल प्रकृति की बातों का ही वर्णन है. ईश्वर के विषय में वह कुछ नहीं बतलाते। उन्हें गीता १५।१५ पर यह श्री रामानुजाचार्य का भाष्य देखना चाहिये।

१ लोकत्रये भूर्भुवः स्वराख्यं इति शं०। लोक्यत इति लोकः तत्त्रयं लोकत्रयम् अचेतनं, तत्संसृष्टः चेतनो, मुक्तः च इति रा०।

**५६८ यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।**
**अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।१८।**

क्योंकि मैं (ईश्वर) क्षर (सब भूतों) से परे और अक्षर से उत्तम हूं इसलिये मैं (ईश्वर) लोक तथा वेद में पुरुषोत्तम प्रसिद्ध हूं ।१८।

**५६९ यो मामेवम-संमूढो जानाति पुरुषोत्तम् ।**
**स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ।१९।**

हे भारत अर्जुन ! जो अज्ञान रहित हुआ पुरुष मुझ को इस तरह पुरुषोतम जानता है, वह सब कुछ जानने वाला सभी भावों से मेरा (परमेश्वर का) ही भजन करता है ।१९।

**५७० इति गुह्यतमं शास्त्रमिद मुक्तं मयानघ ।**
**एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृत-[1]कृत्यश्च भारत ! ।२०।**

हे निष्पाप अर्जुन ! इस प्रकार अत्यन्त गूढ रहस्य वाला यह शास्त्र मैंने बतलाया है । इसे जानकर पुरुष बुद्धिमान् और कृत कृत्य (जिसने करने योग्य सब कुछ कर लिया है) हो जाता है ।।२०।।

इति श्रीमद्भगवद् गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग-शास्त्रे
श्री कृष्णार्जुन संवादे पुरुषोत्तम योगो नाम

**।। [2]पञ्चमोऽध्यायः ।।**

---

१ कृतं कृत्यं कर्तव्यं, येन स कृतकृत्यः इति० ।
२ इस अध्याय में श्रीकृष्णजी ने ही २०श्लोक कहे हैं आरम्भ से यहां तक कुल ५७० श्लोक हुए हैं ।

## अथ षोडशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

५७१ अभयंसत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञान-योग-व्यव-स्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ।१।

श्री भागवान् बाले:—

१ निडर होना, २ अन्तः करण का निर्मल (अर्थात् अन्तः करण का रजोगुण तथा तमोगुण से रहित) होना ३ ज्ञान (शास्त्र तथा गुरु से आत्मादि पदार्थों को जानना) और योग में स्थिरता (लगन) (उस जाने हुए तत्व का चित्तवृत्तियों के निरोध द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव) ४ दान देना ५ मन को वश में करना ६ यज्ञ (ईश्वर, देवपूजा, माता पितादि गुरु जनों का सम्मान, अग्निहोत्र तथा परोपकार के कार्य) करना ७ स्वाध्याय (वेद, शास्त्र आदि ग्रन्थों का नित्य पाठ) ८ तप (अपने वर्ण के मुख्य कर्तव्यों को पालन करने के लिये कष्ट सहन करना वा तपस्या करना) ९ सरलता (अर्थात् छल-कपट न कर सरल स्वभाव) होना ।१।

५७२ अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्ति-रपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्री रचापलम् ।२।

१० हिंसा (दूसरों को पीड़ा न पहुँचाना) ११ सत्य बोलना, १२ क्रोध न करना, १३ त्याग की भावना रखना, १४ शान्त रहना, १५ किसी की चुगली न करना १६ जीवों पर दया करना, १७ लोभी न होना, १८ कोमल होना (क्रूर न होना) १९ न करने योग्य कर्म करने में लज्जा करना, २० चपल न होना ।२।

५७३ [१]तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नाति-मानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ! ।३।

हे भारत ! २१ तेजस्वी होना ( दूसरों से न दबने की शक्ति का नाम है तेज उससे युक्त होना ) २२ क्षमा करना, २३ धैर्य रखना, २४ पवित्र रहना, २५ द्रोह न करना (अर्थात् दूसरों की स्वतन्त्रता में विघ्न न डालना वा विश्वासघात न करना २६ अतिमानी न होना ( ये लक्षण ) दैवी संपत्ति से लेकर जन्मे हुये (पुरुष) में होते हैं ।३।

५७४ दम्भो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ।४।

हे अर्जुन ! दम्भ (लोग मुझे अच्छा समझें इस इच्छा से दिखावा) दर्प (धन, जन वा बल के कारण दूसरों के अपमान की प्रवृत्ति) अतिमान (दूसरों से अपने को बड़ा समझना) क्रोध, पारुष्य (दूसरों से व्यवहार में रुखाई दिखाना) और अज्ञान (उलटी समझ) (ये लक्षण) आसुरी संपत्ति (की वासनाओं) को लेकर जन्मे हुए (पुरुष) में होते हैं ।४

५७५ दैवी-संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ! ।५।

दैवी सम्पत्ति मोक्ष के लिये और आसुरी बन्धन के लिये मानी गई है हे पाण्डव ! शोक मत कर (क्योंकि) तू दैवी सम्पद में उत्पन्न हुआ है ।५।

---

१ तेजः दुर्जनैः अनभिभवनीयत्वमिति । रा० ।

५७६ द्वौ भूत-सर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ।६।

हे पृथा के पुत्र ! इस संसार में प्राणियों का दैवी और आसुरी दो प्रकार की सृष्टि है । (अर्थात संसार में कुछ दैवी प्रकृति के और कुछ आसुरी प्रकृति के लोग होते हैं ) दैवी प्रकृति विस्तार से कह दी गई है अब मुझसे आसुरी प्रकृति वाले लोगों का (वर्णन) सुन ।६।

५७७ प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरा-सुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ।७।

आसुरी प्रकृति के लोग प्रवृत्ति ( कौनसा कर्म करना चाहिये ) निवृत्ति (कौन सा कर्म न करना चाहिये) को नहीं जानते, उनमें पवित्रता नहीं होती, आचार नहीं होता और न हीं सत्य होता है ।७।

५७८ असत्य-मप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्पर-संभूतं किमन्यत् काम-हैतुकम् ।८।

वे कहते हैं, कि जगत् असत्य है (अर्थात जैसे इसकी उत्पत्ति शास्त्र में लिखी है वैसे यह उत्पन्न नहीं हुआ) आधार रहित है (इसका मूल कारण कोई नहीं) और विना ईश्वर का है ( इसका शासन करने वाला कोई नहीं), स्त्री पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ है, अतः काम [भोग विलास] के सिवाय इसकी उत्पत्ति का और क्या कारण हो सकता है ? ।८।

५७९ एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्प-बुद्धयः ।

प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ।९।

इस दृष्टि का अवलम्बन करके जिन्होंने अपने आपका नाश कर लिया हैं। वे (सब के) शत्रु, क्रूर कर्म करने वाले, मन्द बुद्धि, संसार के नाश के लिये ही होते हैं।९।

५८० काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।

मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ।१०।

पाखण्ड, मान ( अपने से लोग मुझे बड़ा समझें यह इच्छा ) मद (धन, जन, बल रूप आदि के कारण दूसरों की उपेक्षा) से युक्त हो, कभी समाप्त न हो सकने वाली कामनाओं को लेकर अज्ञान के कारण झूठी भावनाओं (अन्ध विश्वासों) में पडकर, भ्रष्टाचार में प्रवृत होते हैं।१०।

५८१ चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।

कामोपभोग-परमा एतावदिति निश्चिताः ।११।

मृत्यु तक बनी रहने वाली असीम चिन्ताओं में पड़े हुए, इन्द्रियों के भोगों को ही सबसे बड़ा उद्देश्य मानने वाले (जो यह कामोपभोग है) बस इतना ही (सुख) है (और परलोक वा मोक्ष कुछ नहीं) इस प्रकार के निश्चय वाले।११।

५८२ आशापाश-शतै बंद्धाः काम-क्रोध-परायणाः ।

ईहन्ते काम-भोगार्थमन्यायेनार्थ सञ्चयान् ।१२।

सैकडों आशा रूपी बन्धनों से बन्धे हुए, काम और क्रोध का आश्रय करके (सांसारिक) भोग भोगने के लिये अन्याय से धन इकट्ठा करना चाहते हैं ।१२।

५८३ इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।

इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ।१३।

यह आज मुझे मिल गया है, इस मनोरथ को मैं प्राप्त करूंगा । यह मेरे पास है और यह धन भी फिर हो जायगा ।१३।

५८४ असौ मया हतः शत्रु र्हनिष्ये चापरानपि ।

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ।१४।

उस शत्रु को मैंने मार दिया और दुश्मनों को भी मार डालूंगा । मैं ईश्वर हूँ ( मुझ में सभी सामर्थ्य हैं, वा मैं ऐश्वर्यशाली हूं) मैं भोगी हूं (ससार के सभी भोगों को भोगने का एक मात्र केवल मुझे ही अधिकार है ) मैं सिद्ध हूं (मुझे असफलता कभी हो ही नहीं सकती, सदा सफलता मेरे चरण चूमती है) मैं बलवान् हूं (संसार में मुझ से कोई बली नहीं) और मैं ही सबसे सुखी हूं ।१४।

५८५ आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
[1]यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञान-विमोहिताः ।१५।

मैं धनी हूं कुलीन हूँ, मेरे जैसा और कौन है ? (अपने को दूसरों से बड़ा सिद्ध करने के लिए) मैं यज्ञ करूंगा, दान दूंगा, मौज करूंगा इस प्रकार अज्ञान से मोहित हुए हुए।१५।

५८६ अनेक-चित्त-विभ्रान्ता मोहजाल-समावृत्ताः ।
प्रसक्ताः काम-भोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ।१६।

अनेक प्रकार की चित्त वृत्तिओं से विक्षिप्त, अज्ञान के जाल में फंसे हुए और विषय सेवन में लगे रहने वाले मनुष्य अपवित्र नरक में गिरते हैं ।१६।

५८७ आत्म-सम्भाविताः स्तब्धाः धनमान-मदान्विताः
यजन्ते [2]नाम-यज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ।१७।

अपने आप में सभी गुणों को मानने वाले (अर्थात् अपने को बड़ा समझने वाले ) विनय रहित (अकड बाज) धन के अभिमान के नशे से चूर, वे दम्भ से (अधर्मी होने पर भी दिखावे के लिये धर्म का ढोंग रचकर) शास्त्राज्ञा के विपरीत विधि विधान से रहित ( वास्तव में नहीं किन्तु ) नाम मात्र के (वा नाम पाने के उद्देश्य से) यज्ञ करते हैं ।१७।

---

१ यक्ष्ये यागेन अपि अन्यान् अभिभविष्यामीति शं०

२ नाम मात्रैः यज्ञैरिति शं० ।२। नाम मात्र प्रयोजनैः इति । रा० ।

५८८ [1]अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ।१८।

अहंकार, बल, घमण्ड, काम और क्रोध का आश्रय करके (अर्थात् इनसे युक्त होकर) दूसरों के गुणों को भी दोष बतलाने वाले, अपने तथा दूसरे के शरीरों में (स्थित) मुझ (ईश्वर )से द्वेष करते हैं ।१८।

५८९ तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ।१९।

मैं उन द्वेष करने वाले, अशुभ कर्मकारी क्रूर नराधमों को, इस संसार में बार २ आसुरी योनियों में डालता हूं ।१९।

५९० आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ! ततो यान्त्यधमां गतिम् ।२०।

हे कुन्ती पुत्र ! वे अज्ञानी जन्म २ में आसुरी योनियों को प्राप्त कर मुझ (ईश्वर) को न पाकर ही फिर नीचे नीचे गिरते जाते हैं ।२०।

५९१ त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशन-मात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ।२१।

आत्मा का नाश (पतन) करने वाले काम क्रोध और लोभ ये तीन प्रकार के नरक की प्राप्ति के द्वार (साधन) हैं । इसलिये इन तीनों को छोड़ देना चाहिये ।२१।

---

१ अनन्यापेक्षः अहम् एव सर्वं करोमीति रा० ।

५६२ एतैर्विमुक्तः कौन्तेय ! तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ।२२।

हे कुन्ती पुत्र ! इन तीन तमोमय (अज्ञान रूप अन्धकार के) द्वारों से मुक्त (बचा हुआ) पुरुष अपनी आत्मा के कल्याण के लिये आचरण करता है, इसलिये परम गति (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है ।२२।

५६३ यः शास्त्रविधि-मुत्सृज्य वर्तते काम-कारतः ।
न स सिद्धि मवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।२३।

जो शास्त्र विधि को छोड़ कर मनमाना आचरण करता है । उसे न सिद्धि (सफलता) मिलती है, न सुख और न परमगति (मुक्ति) ही ।२३।

५६४ [1]तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।२४।

इस लिये कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में तेरे लिये शास्त्र ही प्रमाण है, यहां शास्त्र में कही हुई विधि को जान कर ही तुझे कर्म करना चाहिये ।२५।

इति श्रीमद्भगवद् गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुन संवादे देवासुर सम्पद् विभाग योगोनाम
[2]षोडशोध्यायः

---

१ गीतामृत पृ० xxxix देखो ।

२ इस अध्याय में श्रीकृष्ण जी के ही २४ श्लोक हैं और आरम्भ से यहां तक कुल ५६४ श्लोक हुए हैं ।

## अथ सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

५६५. ये [1]शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।

तेषां निष्ठा तु का कृष्ण! सत्वमहो रजस्तमः ।१।

अर्जुन ने कहा :—

हे कृष्ण! जो शास्त्र विधि का तो त्याग कर देते हैं (परन्तु फिर भी) श्रद्धा से यज्ञ (अपने उपास्य की उपासना) करते हैं उ की वह निष्टा (विश्वास) कैसी है, क्या वह सात्विक है, ? राजस है? या तामस है? ।१।

श्री भगवानुवाच—

५६६ त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।

सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ।२।

श्री भगवान् बोले:—

वह मनुष्य के स्वभाव से उत्पन्न हुई श्रद्धा सात्विकी, राजसी और और तामसी, तीन प्रकार की हुआ करती है, उसे तू सुन ।२।

५६७ सत्वानुरूपा सवस्य श्रद्धा भवति भारत!।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।३।

हे भारत! सब की श्रद्धा अपने अन्तः करण के अनुसार ही होती है, यह पुरुष श्रद्धामय है (अपने विश्वासों का पुतला है) जिसकी जैसी श्रद्धा है, वह वैसा ही होता है ।३।

---

१ गीतामृत पृ० xxxix देखें।

५९८ यजन्ते सात्विका देवान् यक्ष-रक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूत-गणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ।४।

सतो गुण प्रधान लोग देवों की पूजा करते हैं, रजोगुण प्रधान लोग यक्ष और राक्षसों को पूजते हैं और तमो गुणी लोग प्रेत तथा भूत समुदाय की पूजा करते हैं ।४।

५९९ अशास्त्र-विहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकार-संयुक्ताः काम-राग-बला-न्विताः ।५।

जिनका शास्त्र में कोई विधान नहीं ऐसे (अपने आपको वा दूसरों को) अत्यन्त पीड़ा देने वाले तपों को भोगों की वासना और (शब्द स्पर्शादि विषयों में) आसक्ति से, हठ पूर्वक (वा काम तथा राग के बल से प्रेरित) जो लोग दम्भ (ढोंग) और अहंकार से युक्त होकर करते हैं ।५।

६०० कर्शयन्तः शरीरस्थं भूत ग्राम-मचेतसः।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान् विद्धयासुर-निश्चयान् ।६।

अविवेकी लोग शरीर में स्थित (पृथ्वी आदि पंच) भूतों के समुदाय को कृश करते (अर्थात शरीर को क्षीण करते हैं) और (लैंप की मलिन चिमनी के भीतर की ज्योति के समान दम्भ अहंकार से युक्त अपने मलिन अन्तः करण के कारण) शरीर के अन्दर (अन्तरात्मा रूप से) स्थित मुझ (परमेश्वर) को कृश (क्षीण तेज) करते हैं, उन्हें त असुरों के निश्चय वाला जान ।६।

६०१ आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।

यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ।७।

सभी (मनुष्यों) को आहार (भोजन) भी तीन प्रकार का (अपनी २ रुचि के अनुसार ही) प्रिय होता है, वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी (तीन २ प्रकार के हैं) उनके इस भेद को सुन ।७।

६०२ आयुः सत्त्व-बलारोग्य-सुख-प्रीति-विवर्धनाः ।

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विक प्रियाः ।८

आयु, बुद्धि, शक्ति, नीरोगता, सुख और प्रसन्नता को बढाने वाले रसयुक्त, चिकने, (घृतादि) शरीर को स्थिर ( कायम ) रखने वाले और हृदय को भाने वाले भोजन, सात्त्विक प्रकृति के लोगों को प्यारे होते हैं ।८।

६०३ कट्वम्ल-लवणात्युष्ण-तीक्ष्ण-रूक्ष-विदाहिनः ।

आहारा-राजसस्येष्टा दुःख शोकामय-प्रदाः ।९।

कडवे, खट्टे, नमकीन, बहुत गर्म, तीखे, रूखे दाहक, ये भोजन राजस स्वभाव के लोगों को प्यारे लगते हैं, परन्तु (ये खाते समय) दुःख (खाने के पश्चात) चिन्ता और (पचने पर) रोग उत्पन्न करते हैं। (अथवा इन्द्रियों में दुःख, मन में शोक और शरीर में रोग उत्पन्न करते हैं) ।९।

६०४ [1]यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामस-प्रियम् ।१०।

अधपका, रस हीन (जिसमें रस न रहा हो) दुर्गन्ध वाला, बासी, जूठा और अपवित्र ये भोजन तमो गुणी लोगों को प्यारे होते हैं ।६।

६०५ अफला-कांक्षिभि र्यज्ञो विधि-दृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ।११।

शास्त्र में विहित यज्ञ करना कर्तव्य ही है मन के इस निश्चय से फल की इच्छा के बिना लोगों से जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक होता है ।११।

६०६ अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ! तं यज्ञं विद्धि राजसम् ।१२।

हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन ! फल प्राप्ति की इच्छा से वा लोग मुझे धार्मिक समझें इस दिखावे (ढोंग) के लिये भी जो यज्ञ किया जाता है, उसे तू राजस जान ।१२।

---

१ यातयामं का अर्थ "जिसे तैयार हुए एक पहर हो गया है" यह भी है, परन्तु यहां यदि एक पहर का बना भोजन ही तामस कहा गया होता, तो फिर बासी भी तामस होता है, यह कहना व्यर्थ हो जाता है इसलिये इसका अर्थ श्री शंकराचार्य जी ने किया, यातयामं-मन्द पक्वं

६०७ विधिहीन[1]मसृष्टान्नं मन्त्र-हीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धा-विरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ।१३।

शास्त्र विधि से रहित (यज्ञ के देवता के लिये जो चरु पुरोडाश आदि अन्न दिया जाता है उस) अन्न से रहित, विना मन्त्र पढ़े, विना दक्षिणा दिये और श्रद्धा के विना किया हुआ यज्ञ तामस कहलाता है ।१३।

६०८ देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनं शौचमार्जवम् ।
[2]ब्रह्मचर्य-महिंसा च शारीरं तप उच्यते ।१४।

देवताओं (की पूजा) ब्राह्मणों (को नमस्कार,) बड़ों (की सेवा) और विद्वानों का (मान) पूजन करना पवित्र (साफ) रहना, ऐंठ (या अकड न दिखाना) ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना, हिंसा न करना यह शरीर का तप कहलाता है ।१४।

६०९ अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रिय-हितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ।१५।

किसी के मन में क्षोभ वा दुःख न पहुँचाने वाले सत्य, मधुर और हितकारी वचन बोलना तथा धार्मिक ग्रन्थों को बार २ पढना, यह वाणी का तप कहलाता है ।१५।

---

१ असृष्टान्नम्—अचोदितद्रव्यम् इति रा० ।

२ ब्रह्मचर्यं-योषित्सु भोग्यत-बुद्धि-युक्तेक्षणादि-रहितत्वम् इति रा० ।

६१० मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्म-विनिग्रहः ।
भाव-संशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ।१६।

मन की प्रसन्नता (मन में भय वा चिन्ता का होना) सौम्यता (चिड़चड़ापन वा क्रूरता का न होना) मनन शीलता (तत्वज्ञान का विचार करना) आत्म निग्रह (अन्तः करण का वश में होना) भाव शुद्धि (दूसरों से सच्चा व्यवहार) यह मन का तप कहलाता है ।१६।

६११ श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभियुक्तैः सात्विकं परिचक्षते ।१७।

वह (शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक) तीन प्रकार का तप, कर्म योग से युक्त, फल की इच्छा से रहित, पुरुषों द्वारा पूरी श्रद्धा (आस्तिक बुद्धि) से किया हुआ सात्विक कहलाता है ।१७।

६१२ सत्कार-मानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलम-ध्रुवम् ।१८।

बड़ाई, आदर और भेंट-पूजा पाने (वा सेवा कराने) के लिये ही दम्भ से (अर्थात् तप पर आस्था न होने पर भी दिखावे के लिये तपस्या का ढोंग करके) जो (तप) किया जाता है । वह यहां चल (अर्थात् कभी किये जाने और कभी न किये जाने वाला) तथा अध्रुव (कभी एक प्रकार से किये जाने और कभी दूसरी तरह से, (अर्थात् जिस तरह से जहां आदर और पूजा होने की सम्भावना हो, वहां उसी प्रकार से किये जाने वाला और जहां न हो वहां न किये जाने वाला) तप राजस कहलाता है ।१८।

६१३ मूढ-ग्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ।१६।

अविवेक के कारण हठ से अपने आपको पीड़ा पहुँचाकर या दूसरे का (अनिष्ट वा नाश) करने के लिये जो तप किया जाता है, वह तामस कहा है ।१६।

६१४ दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुप-कारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ।२०।

"दान देना मेरा कर्तव्य है" इस भावना से देश (जिस स्थान पर) काल (जिस समय) और पात्र (जिस व्यक्ति को जिस वस्तु की जरूरत हो) [अथवा देश (तीर्थादि पवित्र स्थान) काल (संक्रान्ति आदि पर्व) और पात्र (विद्वान् तथा तपस्वी ब्राह्मण)] जिसने दान देने वाले पर कोई उपकार न किया हो, उस को (बदला पाने की इच्छा के बिना) जो दिया जाता है । वह सात्त्विक दान कहलाता है ।

६१५ यत्तु प्रत्युपकारार्थं फल-मुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं-राजसं स्मृतम् ।२१।

जो दान बदला पाने की इच्छा से या (स्वर्ग प्राप्ति आदि) फल पाने के विचार से वा क्लेश पूर्वक (न चाहते हुए भी किसी के दबाव से) दिया जाता है, उस दान को राजस कहा है ।२१।

६१६ अदेश-काले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ।२२।

अदेश (अनुचित्तदेश-म्लेच्छदेश-यथा यहां से ले जाकर पाकस्तान में गोदान) अकाल (अयोग्य समय-जैसे हैजे के दिनों में खीरे या अमरूद दान करना ) और अपात्रों (अनाधिकारियों) को जो दान दिया जाता है, तथा (दान देते समय पात्र का) सत्कार न करके (दानीपन के अभिमान से दूसरे का) तिरस्कार करके जो दान दिया जाता है, वह तामस दान कहलाता है ।२२।

६१७ ओं *तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ।२३।

१ ओं, २ तत, ३ सत, यों तीन प्रकार से ब्रह्म का वर्णन किया गया है। उस (ब्रह्म) ने सृष्टि की आदि में ब्राह्मण (आदि सभी मनुष्य) उत्पन्न किये, वेद (ज्ञान दिया) और यज्ञ (कर्तव्य कर्मों की व्यवस्था की ।२३।

---

* गीतामृत पृ० xxxx देखें ।

१ ओमिति ब्रह्म, तै० उ० १।८।

२ तदिति वा एतस्य महतोभूतस्य नाम भवति ऐ० आ० ३।३।१६

३ सदेव सोम्येद मग्र आसीत् । छा० ६।२।१।

६१८ तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञ-दान-तपः क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ।२४।

इस लिये ब्रह्म को मानने वाले (आस्तिक) लोगों के शास्त्र विधि के अनुसार कहे हुये यज्ञ, दान और तप रूप कर्म सदा "ओं" इस (परमेश्वर के) नाम का उच्चारण करके ही आरम्भ होते हैं ।२४।

६१९ तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञ-तप-क्रियाः ।
दान-क्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्ष-कांक्षिभिः ।२५।

(स्वर्गादि) फलों की चाह न करके मोक्ष चाहने वालों से अनेक प्रकार के यज्ञ, तप और दान "तत्" वह (ब्रह्म इनसे प्रसन्न हो) यों कह कर किये जाते हैं ।२५।

६२० सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ! युज्यते ।२६।

हे पार्थ ! सदा रहने वाले पदार्थ और श्रेष्ठ भाव में "सत्" इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार श्रेष्ठ कर्म के लिए भी सत् का प्रयोग होता है ।२६।

६२१ यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ।२७।

यज्ञ, तप और दान की प्रवृति "सत" कही जाती है और उसके लिए (अर्थात परमेश्वर के लिये) किये कर्म सत कहलाते हैं ।२७।

६२२ [1]अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ।२८।

जो बिना श्रद्धा के किया हवन, दिया दान, और तपा तप है, वह "असत" कहलाता है। हे अर्जुन (वह) न मरने पर, परलोक (का साधक है) और नहीं इस लोक के लिये (लाभदायक) होता है ।२८।

इति श्रीमद्भगवद् गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग-शास्त्रे
श्री कृष्णार्जुन संवादे श्रद्धात्रय विभाग योगो नाम

॥ [2]सप्तदशोऽध्याय ॥

---

१ गीतामृत पृ० XXXX देखें।

२ इस अध्याय में अर्जुन ने १ और श्रीकृष्णजी ने २७ श्लोक कहे हैं आरम्भ से यहां तक कुल ६२२ श्लोक हुए हैं।

## अथाष्टादशोऽध्यायः

अर्जुनउवाच—

६२३ संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक् केशिनिषूदन ।१।

अर्जुन ने कहा—

हे महाबाहु, हे हृषीकेश, हे केशि असुर को मारने वाले! मैं संन्यास शब्द और त्याग शब्द का पृथक् २ यथार्थ रूप जानना चाहता हूं ।१।

श्रीभगवानुवाच—

६२४ काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्व-कर्म-फल-त्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।२।

श्री भागवान् बोले:—

विद्वान् लोग काम्य कर्मों के त्यग को 'संन्यास' समझते हैं और विचारवान् सभी कर्मों के फल त्याग को त्याग कहते हैं। अर्थात् काम्य कर्म करने ही छोड़ देना, संन्यास कहलाता है और सभी प्रकार के कर्म करते हुए भी उनके फल की इच्छा न रखने का नाम त्याग है) ।२।

६२५ त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञ-दान-तपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ।३।

कुछ विचार शील कहते हैं, कि कर्म दोष युक्त होने से (अर्थात् कर्म बन्धन का हेतु है इसलिये कर्म करना) छोड़ ही देना चाहिये। दूसरे कहते हैं, कि यज्ञ, दान, और तप ये कर्म नहीं छोड़ने चाहिये ।३।

६२६ निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरत-सत्तम ।
त्यागो हि पुरुष-व्याघ्र [1]त्रिविधः संप्रकीर्तितः ।४।

हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ ! इस त्याग के विषय में मेरा निश्चय सुन। हे पुरुष सिंह, अर्जुन ! त्याग भी तीन प्रकार का कहा गया है ।४।

६२७ यज्ञ-दान-तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।५।

यज्ञ, दान और तप रूप कर्म त्याग के योग्य नहीं, इन्हें तो करना ही चाहिये (क्योंकि) यज्ञ, दान और तप ये तो विचारशील मनुष्यों के अन्तः करण को शुद्ध करने वाले हैं ।५।

---

१ त्रिप्रकारः तामसादिप्रकारैः इति शं०
त्यागः क्रियमाणेषु एव वैदिक कर्मसु फलविषयतया, कर्मविषयतया, कर्तृत्व विषयतया च पूर्वम् एवहि मया त्रिवधः इति रा० ।

६२८ एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ।६।

हे पृथा पुत्र अर्जुन ! ये (यज्ञ दान और तप रूप) कर्म तो आसक्ति (कर्तापन का अभिमान) और फल (प्राप्ति की इच्छा) छोड़कर करने ही चाहिये, यही मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है ।६।

६२९ नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ।७।

कर्तव्य रूप से प्राप्त, कर्म का त्याग करना तो कभी भी उचित नहीं अज्ञान वश किया हुआ उसका त्याग तामस कहलाता है ।७।

६३० दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेश-भयात्त्यजेत्
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्याग फलं-लभेत् ।८।

जो भी कर्म है, वह दुःख रूप ही है (अर्थात् सभी कर्म दुःख रूप हैं) इस प्रकार समझ कर जो शारिरिक क्लेश के भय से (कर्म का) त्याग कर देता है, वह राजस त्याग करके भी, त्याग के फल (मोक्ष) को नहीं पाता ।८।

६३१ कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः ।९।

हे अर्जुन ! जो अपने लिये नियत कर्म हैं, उसे करना ही चाहिये (इस विचार से) आसक्ति (कर्तापन का अभिमान) और फल (ऐसा करने से मुझे क्या मिलेगा इस स्वार्थ) की भावना का जो त्याग किया जाता है, वही सात्विक त्याग माना गया है ।९।

६३२ न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।

त्यागी सत्वसमाविष्टो मेधावी छिन्न-संशयः ।१०।

(कर्मफल का) त्याग करने वाला, सत्व गुण युक्त, बुद्धिमान् , जिसके सभी संशय मिट चुके हैं, वह अकुशल (श्रमसाध्य, कष्टप्रद) कर्म से द्वेष नहीं करता और नहीं कुशल (सुखद) कर्म से प्रेम ही करता (अर्थात् जो कर्म उसके लिये नियत किया गया है, वह काम छोटा हो या बडा उसे अपना कर्तव्य समझकर करता) है ।१०।

६३३ नहि देह-भृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्य-शेषतः ।

यस्तु कर्म-फल-त्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।११।

शरीरधारी कर्मों का सर्वथा त्याग कर ही नहीं सकता, अतः जिसने कर्म फल का त्याग कर दिया है, वही त्यागी कहलाता है ।११।

६३४ अनिष्ट-मिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।

भवत्यागिनां [1]प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ।१२।

"अच्छा, बुरा और "अच्छा-बुरा मिला हुआ," कर्मों का यह तीन प्रकार का फल (कर्म फल की इच्छा) न छोड़ने वालों को कर्म करने के बाद मिलता है, परन्तु कर्मफल का त्याग (निष्काम भाव से कर्म) करने वालों को कभी नहीं मिलता ।१२।

---

१ प्रेत्य-शरीरपातात् ऊर्ध्वम् इति शं० ।

१ प्रेत्य-कर्मानुष्ठानोत्तर कालम् इति रा०

६३५ पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्व-कर्मणाम् ।१३।

हे लम्बी भुजाओं वाले अर्जुन ! सभी कर्मों की सिद्धि के ये पांच कारण कर्मों का अन्त करने के लिये उपाय बतलाने वाले (वेदान्त) शास्त्र (अथवा सांख्य सिद्धान्त में कहे गये हैं) उन्हें तू जानले ।१३।

६३६ अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा [2]दैवं चैवात्र पञ्चमम् ।१४।

शरीर, कर्त्ता ( जीवात्मा ) भिन्न २ इन्द्रियां, अनेक प्रकार की पृथक २ (प्राण, अपान आदि वायुओं की क्रियाएं) और पांचवीं प्रारब्ध ।१४।

६३७ शरीर-वाङ्-मनोभि र्यत् कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ।१५।

शरीर, वाणी और मन से मनुष्य जिस नीति संमत वा नीति विरुद्ध (अच्छे या बुरे) कार्य को आरम्भ करता है, उसके ये ( पूर्व श्लोक में कहे हुए) पांचों ही कारण हुआ करते हैं ।१५।

---

२ दैवं-आदित्यादि चक्षुराद्यनु ग्राहकम् इति शं॰
दैवं-परमात्मा, अन्तर्यामी कर्मनिष्पत्तौ प्रधानहेतु इति रा॰ ।

६३८ तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृत-बुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ।१६।

वहां (कर्म के विषय में) ऐसा होते हुए भी जो शास्त्रोपदेश रहित तथा तर्क बुद्धि शून्य होने के कारण केवल आत्मा को ही कर्ता देखता (समझता) है, वह दूषित बुद्धि वाला (कुछ भी) नहीं देखता (समझता) ।१६।

६३९ यस्य नाहं कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।१७।

जिस (पुरुष) का मैं कर्ता हूं, यह भाव नहीं (अर्थात् कर्तव्य समझ कर कर्म करने के कारण मैंने यह किया, यह अहंकार का भाव जिसमें आता ही नहीं) और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती (अर्थात् जिसकी बुद्धि पर उस कर्म के सुख दुःख का प्रभाव नहीं पडता) वह इन सब लोकों (समस्त जगत) को मारकर भी (किसी को) नहीं मारता और न ही (उस के फल रूप बन्धन में) बन्धता है ।१७।

६४० ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्म चोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्म-संग्रहः ।१८।

ज्ञान (जानना) ज्ञेय (जानने की वस्तु) और ज्ञाता (जानने वाला) तीन प्रकार से (वा (इन) तीन के संयोग से किसी) कर्म करने की प्रेरणा होती है, करण (इन्द्रियादि साधन) कर्म और कर्त्ता यह तीन प्रकार से कर्म का संग्रह (वा इन तीनों के योग कर्म का संपादन होता) है ।१८।

६४१ ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुण-भेदतः ।
प्रोच्यते गुण-संख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ।१६।

ज्ञान, कर्म और कर्त्ता सांख्य शास्त्र में गुणों के भेद से तीन २ प्रकार के गये कहे हैं, उन्हें भी तू जैसे वे कहें हैं वैसे सुन ।१६।

६४२ सर्व-भूतेषु येनैकं भावमव्यय-मीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ।२०।

जिस (ज्ञान) से अलग २ ( प्रत्येक शरीर में ) प्रतीत होने वाले, (उस) अविनाशी, भाव (आत्मतत्व) को सभी प्राणियों में विभाग रहित एक देखता है उस ज्ञान को तू सात्त्विक (पूर्ण ज्ञान) जान ।२०।

६४३ पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग् विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ।२१।

जो ज्ञान शरीर के अलग २ होने से समस्त प्राणियों में भिन्न२ प्रकार की नाना आत्माऐं जानता है, उस (भेद बोधक) ज्ञान को तू राजस ज्ञान जान ।२१

६४४ यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पञ्च तत्तामसमुदाहृतम् ।२२।

जो एक कार्य में परिपूर्ण की तरह आसक्त हो (अर्थात् कार्य रूप मेंजगत् को वा शरीर को ही सभी कुछ समझ बैठे, आत्मा वा परमात्मा के विषय की सोचने ही न दे ) उस युक्ति रहित, तात्विक विचार शून्य तथा तुच्छ (ज्ञान) को तो तामस कहा है ।२२।

६४५ नियतं सङ्ग-रहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत् सात्त्विकमुच्यते ।२३।

कर्तापन के अभिमान के विना, राग द्वेष से रहित होकर फल की इच्छा न करने वाले (मनुष्य) से (जो शास्त्राज्ञा द्वारा) नियत कर्म किया जाता है, वह सात्विक (कर्म) कहा जाता है ।२३।

६४६ यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ।२४।

जो कर्म फल की इच्छा रखने वाले या अहंकार युक्त पुरुष से बड़े परिश्रम से किया जाता है, वह राजस (कर्म) कहा गया है ।२४।

६४७ अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामस-मुच्यते ।२५।

परिणाम, (धन) हानि, हिंसा और सामर्थ्य को बिना विचारे मोह से जो कर्म आरम्भ किया जाता है, उस (कर्म) को तामस कहते हैं ।२५।

६४८ मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साह-समन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते ।२६।

फलासक्ति से रहित, अहंकार की बातें न करने वाला, धैर्य और उत्साह से युक्त, सफलता तथा असफलता में निर्विकार रहने वाला कर्ता सात्विक कहा गया है ।

६४६ रागी कर्म-फल-प्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्ष-शोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ।२७।

संसार में फंसा हुआ (वा यश चाहने वाला) कर्मों के फल का इच्छुक, लोभी हिंसक, अपवित्राचारण वाला, हर्ष और शोक से युक्त, कर्ता, राजस कहा गया है ।२७।

६५० अयुक्तः प्राकृतः [1]स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ।२८।

अस्थिर चित्त, मूर्ख, घमण्डी, ठग, दूसरों की आजीविको नष्ट करने वाला, आलसी, शोकातुर, काम करने में सदा ढील करने वाला, कर्ता तामस कहा गया है ।२८।

६५१ बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ।२९।

हे अर्जुन ! बुद्धि तथा धृति के गुणों के अनुसार तीन २ प्रकार के (वे) भेद मुझसे पूरी तरह कहे हुये तू पृथक २ सुन ।२९।

---

१ स्तब्धः-अनारम्भ शीलः। शठः-अभिचारादि कर्मरुचिः। नैष्कृततिकः-वञ्चन परः। अलसः-आरब्धेषु अपि कर्मसु मन्दप्रवृत्तिः। दीर्घसूत्री-अभिचारादि कर्म कुर्वन् परेषु दीर्घकालवर्त्यनर्थं पर्यालोचन शीलः। इति रा०।

६५२ प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ।३०।

प्रवृत्ति (कर्म) मार्ग और निवृत्ति (संन्यास) मार्ग तथा क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, ( इसी तरह ) किससे डरना चाहिये, और किससे निडर रहना चाहिये, एवं बन्ध क्या है और मोक्ष क्या, जो यह जानती है, हे अर्जुन ! यह बुद्धि सात्त्विकी है ।३०।

६५३ यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्य-मेव च ।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ ! राजसी ।३१।

हे अर्जुन ! जिससे धर्म तथा अधर्म को कर्तव्य और अकर्तव्य को, यथार्थ रूप (ठीक २ निर्णय) से नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है ।३१।

६५४ अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृत्ता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ ! तामसी ।३२।

हे अर्जुन ! जो तमोगुण से ढकी हुई ( बुद्धि ) धर्म को अधर्म मानती और सभी बातों को उलटा समझती है, वह तामसी बुद्धि है ।३२।

**६५५ धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।**

**योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ! सात्त्विकी ।३३।**

हे अर्जुन! चित्त की एकाग्रता द्वारा, जिस एक जगह टिकने वाली दृढ धृति (धारण शक्ति) से मन, प्राण और इन्द्रियों के व्यापार को वश में रखा जाता है, वह सात्त्विकी धृति होती है ।३३।

**६५६ यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ।**

**प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ! राजसी ।३४।**

हे अर्जुन! फल की इच्छा वाला पुरुष, जिस धृति (धारण शक्ति) के द्वारा अत्यन्त आसक्ति से धर्म, काम और अर्थ को धारण करता है। हे पार्थ? वह राजसी धृति है ।३४।

**६५७ यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।**

**न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा तामसी मता ।३५।**

हे अर्जुन! जिस (धारण शक्ति) से निद्रा भय (डर) शोक, खेद, और घमंड को कुत्सित बुद्धि नहीं छोड़ता, वह धृति तामसी होती है ।३५।

---

१ यस्य २ धर्मादेः धारण प्रसंगः तेन तेन प्रसङ्गेन फलाकांक्षी च भवति । इति शं० ।

६५८ सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ !।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ।३६।

हे भरतकुल श्रेष्ठ ! अब मुझ से तू तीन प्रकार के सुख सुन। जिस (सुख) में बार २ आवृत्ति करने से पुरुष प्रसन्नता प्राप्त करता है और दुःखों के अभाव का अनुभव करता है ।३६।

६५९ यत् तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धि-प्रसादजम् ।३७।

जो पहले (साधन काल में परिश्रम साध्य होने से) विष के समान जान पड़े, परन्तु परिणाम में (फल के समय) अमृत के सदृश हो। वह अपनी बुद्धि की निर्मलता से होने वाला (अथवा आत्मस्वरूप के अनुभव से होने वाला) सुख सात्त्विक कहा गया है ।३७।

६६० विषयेन्द्रिय-संयोगाद् यत् तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत् सुखं राजसं स्मृतम् ।३८।

विषय और इन्द्रियों के सम्बध से उत्पन्न हुआ, जो सुख पहले अमृत के समान जान पड़े, परन्तु परिणाम (अन्त) में विष के सदृश हो, वह सुख राजस कहा है ।३८।

६६१ यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्य-प्रमादोत्थं तत् तामसमुदाहृतम् ।३६।

जो सुख आरम्भ में तथा अन्त में भी अन्तःकरण को मोह में फंसाने वाला है और नींद, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न होने वाला हो, उसे तामस सुख कहा गया है।३६।

६६२ न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः।४०।

पृथ्वी पर वा अन्तरिक्ष में या देवों में (कोई) ऐसा प्राणी या जड़ पदार्थ नहीं, जो प्रकृति से उत्पन्न हुए इन तीन ( सत्व रज तम ) गुणों से रहित हो।४०।

६६३ ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां शूद्राणां च परंतप!।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव-प्रभवैर्गुणैः।४१।

हे शत्रु को तापने वाले अर्जुन! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म उनके स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा पृथक् २ बांटे गये हैं। अर्थात् उनके पृथक २ गुणों के अनुसार उनके लिये पृथक २ कर्तव्य नियत किये गये हैं।४१।

१ जन्मान्तर कृत संस्कार प्राणिनां वर्तमान जन्मनि स्वकार्याभि मुखत्वेन अभिव्यक्तः स्वभावः इति शं०

६६४ शमो दमस्तपः शौचं क्षान्ति रार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।४२।

शम ( अन्तः करण को वश में रखना,) दम, (वाह्य करण-इन्द्रियों का निग्रह) तप ( धर्म के लिये कष्ट सहन करना ) पवित्रा ( वाहिर और भीतर की शुद्धि) सहन शीलता, सरलता, ज्ञान (आत्म बोध) विज्ञान (सुने हुए तत्व का साधनों द्वारा अनुभव करना अथवा प्रकृति के पदार्थों का बोध) ईश्वर और परलोक पर विश्वास, ये ब्राह्मण के स्वाभिक कर्म हैं ।४२।

६६५ शौर्यं तेजो धृति र्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यलायनम् ।
दानमीश्वर-भावश्च क्षत्रकर्म स्वभावजम् ।४३।

वीरता, तेजास्विता (दूसरों से न दवने का स्वभाव) धीरता, चतुरता युद्ध में स्थिरता ( न भागने की भावना ) दानशीलता और प्रभुता ये क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं ।४३।

६६६ कृषि-गौरक्ष्य-वाणिज्यं वैश्य-कर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।४४।

खेती, गोरक्षा (पशु पालन) और व्यापार करना, ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं और सेवा रूप (श्रम साध्य) कर्म शूद्र का भी स्वाभाविक है ।४४

६६७ स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।

स्वकर्म-निरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ।४५।

अपने २ कर्म में तत्पर पुरुष सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। अपने कर्म में लगा हुआ (पुरुष) जैसे सिद्धि पाता है, वह सुन ।४५।

६६८ यतः प्रवृत्ति भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।४६।

जिस (परमात्मा) से सब जीवों की उत्पत्ति हुई है, जिससे यह सब जगत् व्याप्त है, अपने कर्म से उसकी पूजा करके (अर्थात् अपना कर्तव्य पालन करना ही परमेश्वर की पूजा करना है. उससे) पुरुष सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त कर लेता है ।४६।

६६९ *श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ।४७।

भली प्रकार से आचरण किए हुए (सुगम) पराये धर्म से अपना गुण रहित (सुगत गुण रहित कठिन) धर्म भी अधिक श्रेष्ठ है. क्योंकि (पहले ४२ से ४४ वें श्लोक तक कहे हुए अपने २) स्वभाव से नियत कर्म करता हुआ मनुष्य पाप को प्राप्त नहीं होता। अर्थात् पापी नहीं होता ।४७।

---

*स्वधर्म अर्थात् अपना कर्तव्य। गीता की शिक्षा का मध्यविन्दु कर्म फल का त्याग है और स्वकर्म की अपेक्षा अधिक उत्तम कर्तव्य खोजने पर "फल त्याग के लिये" स्थान नहीं रहता। इस कारण स्वधर्म को श्रेष्ट कहा गया है। इति राष्ट्र पिता श्री गान्धी।

६७० सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।४८।

हे अर्जुन ! अपना स्वाभाविक कर्म, दोष युक्त भी न छोड़ना चाहिये (क्योंकि) धूंए से आग की तरह, सभी कर्म दोषों से युक्त होते हैं (भाव यह कि जैसे अग्नि के साथ ही धूम पैदा हो जाता है ठीक वैसे ही कर्म के साथ कुछ न कुछ दोष भी (अर्थात् कोई कर्म दोष से खाली नहीं परन्तु जैसे आग के साथ धुआं रहने पर भी वह छोड़ी नहीं जा सकती वैसे ही कर्तव्य कर्म भी न छोड़ने चाहिये ।४८।

६७१ असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ।४९।

जिसकी बुद्धि सभी कर्मों में कर्तापन के अभिमान से शून्य है, जिसने अपने अन्तः करण को जीत लिया है, जिसकी तृष्णा मिट चुकी है (वह इस फल) त्याग से कर्म निवृत्ति रूप (कर्मों में कर्मों से रहित होने की) सर्वोत्तम सिद्धि को प्राप्त होता है ( अर्थात फलासक्ति रहित कर्त्ता अकर्त्ता होने से उन कर्मों के बन्धन में नहीं फंसता ।४९।

६७२ सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ।५०।

हे अर्जुन ! (उक्त) सिद्धि को पाकर जिस प्रकार (मनुष्य) ब्रह्म को प्राप्त करता है, वह प्रकार तू मुझसे संक्षेप से सुन । जो ज्ञान की अन्तिम सीमा है ।५०।

६७३ बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयाँस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।५१।

शुद्ध (कपट रहित) बुद्धि से युक्त हो, धैर्य से अपने आपका संयम कर, शब्दादि विषयों को छोड़ और राग द्वेष का त्याग कर के।५१।

६७४ विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्-काय-मानसः।
ध्यान-योग-परो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।५२।

एकान्त में रहने वाला, हलका भोजन करने वाला, वाणी शरीर और मन को संयम में रखने वाला, सदा ध्यान योग में लगा रहने वाला, (अर्थात् एक चित्त से ईश्वर का ध्यान करने वाला) वैराग्य से युक्त हो।५२।

६७५ अहंकारं बलं [1]दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।५३।

अहंकार (सर्वोत्कृष्ट होने की भावना) बल (प्रयोग) दर्प (सुख के समय धर्म उल्लघंन की भावना) काम, क्रोध, परिग्रह (भोग साधनों का अधिक संग्रह) को छोड़ कर और ममता (संसारिक वस्तुओं में यह भावना कि ये मेरी हैं इस) का त्याग कर, शान्त (चित्त को, सब विषयों से रहित कर) पुरुष ब्रह्मभाव को प्राप्त करने में समर्थ होता है।५३।

१ हृष्टो दृप्यति, दृप्तो धर्ममतिक्रामति, इति स्मारणात् इति शं०

६७६ ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।५४।

ब्रह्म भाव को प्राप्त हुआ २ (अर्थात् आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता में दृढ निश्चय वाला) प्रसन्न चित्त, न (नष्ट द्रव्य का) शोक करता है और न हो (अप्राप्त वस्तु की) इच्छा रखता है। वह समस्त प्राणियों में समता रखने वाला मेरी (परमात्मा की) परा (सर्वोत्कृष्ट) भक्ति को पा लेता है। (अर्थात् वह परमेश्वर को अपना आत्मा समझने लगता है, क्योंकि अपना आत्मा सबसे अधिक प्रिय होता है, इसलिये वह भगवान् में सबसे अधिक प्रेम करने लगता है, इसी का नाम परा भक्ति है) ।५४।

६७७ भक्त्या मामभि-जानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः[1]।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।५५।

मैं जितना और जो कुछ हूं, भक्ति से मुझे ठीक २ जान लेता है फिर वास्तव रूप से जानकर उसके पश्चात् मुझ (ईश्वर) में मिल जाता है ।५५।

६७८ सर्व-कर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।

मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।५६।

मेरे आश्रय होकर सभी कर्मों को सदा करता हुआ भी मेरी कृपा से सदा रहने वाले विकार रहित पद को प्राप्त होता है ।५६।

---

१ यावान् अहम् उपाधिकृत विस्तरभेदो यः च अहं विध्वस्त सर्वोपाधि भेदः इति शं०

६७९ चेतसा सर्व-कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ।५७।

मन से सब कर्मों को मेरे अर्पण करके, मेरे परायण हो, मुझमें (बुद्धि को स्थिर करने रूप) बुद्धियोग का आश्रय ले (अर्थात् अनन्य शरण होकर) निरन्तर मुझमें चित्त को लगाये रख ।५७।

६८० मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि ।
अथ चेत् त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ।५८।

मुझमें चित्त लगाये रखने के कारण मेरी कृपा से तू सभी कठिनाईयों को पार कर जायेगा और यदि तू अहंकार के कारण न सुनेगा (मानेगा) तो नष्ट हो जायेगा ।५८।

६८१ यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।५९।

जो तू अपनी बुद्धि के घमण्ड से समझ रहा है, कि मैं युद्ध नहीं करूंगा, यह तेरा निश्चय झूठा है। (तेरी) प्रकृति तुझे (युद्ध में) लगायेगी ५९।

६८२ [1]स्वभावजेन कौन्तेय ! निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ।६०।

हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! जो तू मोह वश नहीं करना चाहता, उसे भी तू अपने स्वभाजन्य कर्म से बन्धा हुआ विवश होकर करेगा ।६०।

६८३ [2]ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्व-भूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।६१।

हे अर्जुन ! ईश्वर [कर्म चक्र पर चढ़े हुए (अथवा यन्त्र पर चढ़ी हुई कठपुतली आदि को मदारी की भान्ति] सब जीवों को अपनी माया से भ्रमण कराता हुआ सभी प्राणियों के हृदय में स्थित है ।६१।

६८४ तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत् प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्यसि शाश्वतम् ।६२।

हे भारत ! तू (मन वचन और कर्म) सब प्रकार से उस (ईश्वर) की ही शरण में जा। उस (परमेश्वर) की कृपा से उत्तम शान्ति और नित्य धाम को प्राप्त करेगा ।६२।

---

१ स्वभावजेन शौर्याख्येन स्वेनकर्मणा निवद्धः, अतः परैः धर्षणाम् असह्यमानः युद्धं करीष्यसीति । रा० ।

२ गीतामृत पृ० XXXX देखें ।

२ यथा दारुकृत पुरुषादीनि यन्त्रारूढानि मायया छद्मना भ्रामयन् तिष्ठति इति संबन्धः इति श्रीशंकराचार्यः ।

६८५ इति ते ज्ञान-माख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया ।

विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि यथा कुरु ।६३।

मैंने तुझे यह गूढ से भी गूढ ज्ञान बतला दिया है, इस पर पूरी तरह से विचार करके (फिर) जैसे तेरी इच्छा हो वैसे कर ।६३।

६८६ सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।

इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ।६४।

मेरे सबसे गूढ रहस्य परम उतम वचन को फिर सुन । तू मेरा अत्यन्त प्रिय है, इसलिये मैं तेरे हित की कहूंगा ।६४।

६८७ मन्मना भव मद्भक्तो 'मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।६५।

मुझ में मन वाला हो (अर्थात् मुझमें मन लगा) मेरा भक्त बन, मेरी पूजा कर और मुझे नमस्कार कर, (इससे) तू मुझे ही प्राप्त होगा (अर्थात् मुक्ति पा लेगा) मैं तुझसे सच्ची प्रतिज्ञा करता हूं (क्योंकि) तू मेरा प्यारा है ।६५।

---

(१) ४६ वें श्लोक में "तमभ्यर्च्य" एवं ६२ में "तमेव शरणं गच्छ" कहने वाले भगवान् ने यहां "मद्याजी मा नमस्कुरु" कह कर यह सूचित किया है कि (तं) और (मां) में कोई भेद नहीं "सोऽहं" (वह मैं हूं) उपनिषद् महावाक्य के तत्व को ही यहां ६४ वें श्लोक में सर्व गुह्यतम ज्ञान कहा है यही अनुभव की बात एक भक्त ने अपनी साधक तथा सिद्ध दोनों अवस्थाओं का वर्णन करते हुए यों कही है :—

दासोऽह मिति या ह्यासीत् पूर्वं बुद्धिर्जनार्दने ।
"दा" शब्दोऽप हृतस्तेन गोपी वस्त्रापहारिणा ॥

६८८ [1]सर्व-धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।६६।

सब धर्मों को छोड़कर ( तू ) एक मेरी शरण में आ जा । मैं तुझे सभी पापों से छुड़ा दूंगा । शोक मत कर ।६६।

---

१ सर्वधर्मों के परित्याग का भाव श्री रामानुजाचार्य ने यह लिखा है, कि "परम कल्याण की प्राप्ति के साधन स्वरूप-कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, रूप सब धर्मों को मेरी आराधना के रूप में अत्यधिक प्रीति से अपने २ अधिकारानुसार करते हुए ही गीता १८-६ तथा १८-११ की उक्त रीति से कर्म फल, तथा कर्तापन के त्याग द्वारा परित्याग करके-एक मुझ को ही कर्ता आराध्य देव और प्राप्त करने योग्य उपाय समझना, यही सर्व धर्मों का शास्त्रीय परित्याग है। अथवा-भक्ति योगारम्भ के विरोधी अनादि काल से संचित नाना प्रकार के अनन्त पापों के अनुरूप उनके प्रायाश्चित रूप में कृच्छ्रचान्द्रायणादि अनन्त धर्म परिमित काल तक जीवित रहने वाले तुझसे होने बहुत कठिन हैं। अतः उन सब धर्मों को छोड़कर भक्ति योग की सिद्धि के लिये मेरी शरण आ।

१ कुछ विद्वान् कहते हैं कि यह श्लोक प्रथमाध्याय के ४३ वें तथा ४५ वें श्लोक का उत्तर है।

१ गीतामृत पृ० XXXX देखो।

६८९ इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ।६७।

जो तपस्वी नहीं, भक्त नहीं, सुनना नहीं चाहता, मेरे (श्रीकृष्ण के) गुणों में दोष दृष्टि रखता है (अर्थात् मैंने जो गीता में अपने विषय में कहा है, उसे केवल मेरी आत्म प्रशंसा मात्र समझ, मेरी निन्दा करता है) उसे यह (गीता शास्त्र) कभी न सुनाना चाहिये ।६७।

६९० य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्य-संशयः ।६८।

जो इस परम गूढ (कृष्णार्जुन संवाद रूप ग्रन्थ) को मेरे भक्तों में सुनायेगा (उन्हें सुनाना यही) मुझ में परम भक्ति (करना है उसे) करके निसन्देह वह मुझे ही प्राप्त होगा ।६८।

६९१ न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ।६९।

मनुष्यों में उस (गीता समझाने वाले) से बढ़कर मेरा कोई प्रिय कार्य करने वाला नहीं और न ही पृथिवी पर उससे भिन्न दूसरा कोई मुझे अधिक प्यारा ही होगा ।६९।

६६२ अध्येष्यते च य इमं [1]धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञान-यज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ।७०।

जो हम दोनों ( कृष्णार्जुन ) के इस धर्म युक्त संवाद (गीता शास्त्र) को पढ़ेगा । उसने मेरी ज्ञान-यज्ञ से पूजा की । यह मेरा मत है ।७०।

६६३ श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात् पुण्य कर्मणाम्।७१

जो पुरुष श्रद्धा से युक्त और गुणों में दोष देखने वाली दृष्टि से रहित होकर (इसे) सुनेगा भी । वह भी पापों से मुक्त हो, पुण्य करने वाले लोगों के शुभ लोकों को प्राप्त होगा ।७१।

---

१ गीता सभी उपनिषदों का सार होने से ब्रह्म विद्या की पुस्तक तो है ही, पर साथ ही यह धर्म २ संस्थापन के लिये अवतीर्ण हुए भगवान् ने ३ धर्म संमूढ अर्जुन को ४ धर्मक्षेत्र में स्वयं श्री मुख से यह कहा है कि "इमं धर्म्यं संवादमावयोः" अतः यह हमारे धर्म शास्त्र की भी पुस्तक है ।

---

देखें:—१ सर्वोपनिषदो गावः । २ धर्म संस्थापनार्थाय (४।८) । ३ धर्म संमूढ चेताः २।७ । ४ धर्म क्षेत्रे कुरु क्षेत्रे १।१।

६९४ कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।

कच्चिदज्ञान-संमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ! ।७२।

हे पृथा के बेटे ! क्या तूने यह (गीता का उपदेश) मन लगाकर सुना । हे धनों को जीतने वाले अर्जुन ! क्या तेरा अज्ञान से उत्पन्न हुआ भ्रम दूर हुआ ? ।७२।

अर्जुन उवाच—

६९५ नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।

स्थितोऽस्मि गत-संदेहः करिष्ये वचनं तव ।७३।

अर्जुन ने कहा :—

हे अच्युत ! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया, मुझे होश आ गई, (मैं समझ गया) मेरा सभी संशय मिट गया, अब मैं तैयार बैठा हूं और आपका कहना करूंगा ।७३।

संजय उवाच—

६९६ इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।

संवाद-मिममश्रौषमद्भुतं रोम-हर्षणम् ।७४।

संजय ने कहा—

इस प्रकार मैंने श्री कृष्ण और महात्मा अर्जुन के इस अद्भुत और रोमाञ्च उत्पन्न करने वाले प्रश्नोत्तर को सुना ।७४।

६९७ [1]व्यास-प्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात् [2]कृष्णात् साक्षात् कथयतः स्वयम् ।७५।

वेद व्यास जी की कृपा से (दिव्य दृष्टि पाकर) मैंने स्वयं यह परम गूढ़ (गीता का उपदेश रूप) योग (अर्जुन के प्रति ) कहते हुए साक्षात (प्रत्यक्ष) योगेश्वर कृष्ण से सुना है ।७५।

६९८ राजान्! संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ।७६।

हे राजा धृतराष्ट्र ! श्री कृष्ण और अर्जुन के इस परम आश्चर्य जनक, कल्याणकारक (पवित्र) संवाद को स्मरण कर करके मैं बार २ हर्षित होता हूं ।७६।

---

१ व्यासउवाच-एष ते संजयो राजान् युद्धमेतद्वदिष्यति ।
एतस्य सर्वं संग्रामे न परोक्षं भविष्यति ।९।
चक्षुषा सञ्जयो राजन् दिव्येनैव समन्वितः ।
कथयिष्यति ते युद्धं सर्वज्ञश्च भविष्यति । १० भीष्मपर्व अ० २।

२ कृष्णात् स्वयमेव कथयतः साक्षात् श्रुतवान् अहम् इति रा० ।

२ कृष्णा[illegible] सं० ।

६९९ तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूप-मत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ।७७।

हे राजन। श्री कृष्ण के परम अद्भुत उस ( विराट् ) रूप को याद कर करके मुझे बड़ा आश्चर्य और बार २ हर्ष होता है।७७।

७०० यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्री विजयो भूतिध्रु वा नीतिर्मतिर्मम ।७८।

जिस ओर योगेश्वर श्री कृष्ण हैं और जिधर धनुषधारी अर्जुन है, उसी ओर श्री (राजलक्ष्मी) विजय (जीत) भूति (ऐश्वर्य) ध्रुव (अटल) नीति (न्याय है)। यही मेरी सम्मति है।७८।

इति श्रीमद्भगवद् गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग-शास्त्रे
श्री कृष्णार्जुन संवादे मोक्ष संन्यास योगो नाम

॥ [1]अष्टादशोऽध्यायः समाप्तः ॥

---

१ इस अध्याय में संजय ने ५, अर्जुन ने २ और श्रीकृष्णजी ने ७१ श्लोक कहे हैं एवं गीता के आरम्भ से यहां तक कुल ७०० श्लोक हुए हैं। जिनमें धृतराष्ट्र का १, संजय के ४१, अर्जुन के ८४ और श्री कृष्ण के ५७४श्लोक हैं।

हरिदत्त वासुदेव प्रेरित रघुनाथदत्तेन
श्रीमद्भगवद्गीता हिन्दी टीकेयमारचिता ।१।
जनता-जनार्दनश्चेदल्पामप्याप्नुयात्त ष्टिम्
अनया, स्वकृति सफलां धन्यां संमस्यते कर्ता ।२।

॥ ओंतत्सत ॥